Chapter 2

Date :

: द्वितीय अध्याय :

: दलित-विमर्श के विभिन्न आयाम :

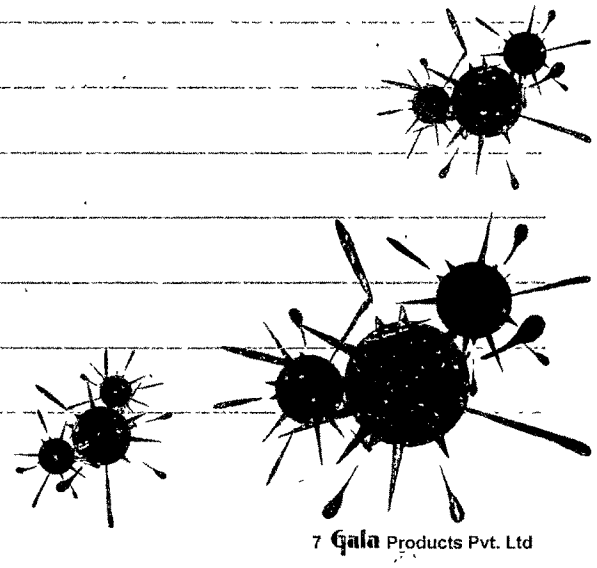

: द्वितीय अध्याय :
: दलित -विमर्श के विभिन्न आयाम :

प्रास्ताविक :

"दलित" शब्द का अर्थ है वह व्यक्ति या जाति जिसका दलन हुआ है, शोषण हुआ है, प्रताड़न हुआ है और जिसके साथ अत्याचार और अन्याय होते रहे हैं। "विमर्श" का अर्थ है चिंतन, मनन, पुनर्विचार आदि। इस प्रकार "दलित-विमर्श" का अर्थ होगा दलित जातियों को लेकर किया गया चिंतन-मनन या पुनर्विचार। कुछ लोग भारतीय ~~हर्षिमस~~ जातिगत ढाँचे में समाज को दो वर्गों में विभाजित करते हैं -- सवर्ण जातियाँ और अवर्ण जातियाँ या अगड़ी जातियाँ और पिछड़ी जातियाँ। अगड़ी जातियों में लगभग 15 % से 20 % जनसंख्या का समावेश हो जाता है। शेष लगभग 80 % जनसंख्या पिछड़ी जातियों के अंतर्गत आती है। उसमें

अनुसूचित जाति (Schedulled caste), अनुसूचित जनजाति (Schedulled tribe) तथा मंडल पंच की जातियां, जिसे गुजरात में बक्षीपंच नाम दिया गया है (अधर बैकवर्ड क्लास - ओ. बी. सी.) आदि का समावेश होता है। कुछ लोग इस समूचे वर्ग को दलित के अंतर्गत रखते हैं, किन्तु यह समीकरण उचित प्रतीत नहीं होता। वस्तुतः मंडल-पंच की जातियां या बक्षी-पंच की जातियां सामाजिक एवं शैक्षिक दृष्टि से पिछड़ी जातियां हैं। हमारे यहां के जातिगत संस्तरण (Hierarachy) में ये बीच की जातियां हैं और उनको उस तरह दलित और दमित नहीं किया गया, जिस प्रकार से अनुसूचित जातियों को। उन्हें बराबर धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि अधिकारों से वंचित रखा गया। पिछले अध्याय में जिन निर्योग्यताओं (disabilities) की चर्चा की गई है, वे निर्योग्यताएं इस वर्ग पर (अर्थात् इन बीच की जातियों पर) कभी थोपी नहीं गयी थीं। बल्कि अपनी क्षमता और आर्थिक सक्षमता की दृष्टि से इन जातियों का संस्तरण ऊपर-नीचे होता रहा है। उदाहरणतया गुजरात की "पटेल" जातिको यदि लिया जाय तो प्राचीन समय में उनको "कणबी" कहा जाता था और उनकी गणना सवर्ण जातियों में नहीं होती थी। किन्तु पिछले 150-200 वर्षों से इस जाति के लोगों ने ने आर्थिक दृष्टया अपने को काफी समृद्ध और संपन्न बना लिया है, अतः अब उनकी परिगणना सवर्ण जातियों में होने लगी है। अब भी दक्षिण गुजरात तथा सौराष्ट्र में कहीं-कहीं उनको सवर्ण नहीं माना जाता। अभिप्राय यह कि उनका संस्तरण परिवर्तित होता रहता है। अतः हमारा दृढ़ अभिमत है कि दलित जातियों में अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति (अधिक प्रचलित शब्दों में एस. सी. और एस. टी.) को ही समाविष्ट करना चाहिए। प्रस्तुत अध्याय में दलित-विमर्श के जिन विभिन्न आयामों की चर्चा होगी उसके केन्द्र में ये दो जातियां होंगी।

दलित-विमर्श और बौद्ध-मत :

वर्ण-व्यवस्था और जाति-प्रथा को सबसे बड़ी चुनौती देने वाले गौतम बुद्ध थे । उन्होंने इस कार्य हेतु एक महान आंदोलन चलाया जो नवजागरण के नेताओं से होते हुए आज भी चल रहा है । सर्वप्रथम गौतम बुद्ध ने मनुष्य की मर्यादा और मनुष्य की अस्मिता को यह कहते हुए ऊपर उठाया कि कोई मनुष्य केवल ब्राह्मण-कुल में जन्म लेने मात्र से पूज्य नहीं हो जाता , न कोई शूद्र होने से पतित होता है । उच्चता और नीचता का संबंध जन्म से नहीं कर्म से है । अतः कर्मों के कारण कोई ब्राह्मण भी पतित हो सकता है और कर्मों के ही कारण कोई शूद्र भी अपने को पूजनीय बना सकता है । उसी प्रकार वेदों ने यज्ञ का अधिकार केवल द्विजों को दिया था और जब उपनिषद बने तब ब्राह्मणों ने उन्हें भी ब्रह्म-विद्या का नाम देकर शूद्रों और स्त्रियों की पहुंच से बाहर कर दिया । इसके विपरीत बुद्ध देव ने चारों वर्णों और स्त्रियों को धर्म का अधिकार समान रूप से दिया । यह ब्राह्मण-धर्म के खिलाफ़ सबसे बड़ी बगावत थी और बौद्धों का ब्राह्मणों ने जो भी विरोध किया , वह मुख्यतः उनके इस विद्रोह के कारण । इसी बात का संकेत हमें बुद्धशरण हंस की कहानी " बुध सरना कहानी लिखता है " में मिलता है । कहानी का जेठू पंडित अपनी धर्म-पत्नी के आगे अपने मन की भड़ास निकालता है -- " बीच-बीच में दालभात में मूसलचन्द पैदा होते रहता है । खतरा पैदा हुआ, तब राम के समय का ब्राह्मणराज को तहस-नहस कर दिया । बाद में बुद्ध , चार्वाक पैदा हुए , तब इन लोगों ने ब्राह्मणवाद का मटियामेट कर दिया । अम्बेडकर और रामसामी नायकर पैदा हुआ तब गांधीजी के रामराज को धूल चटा दिया । अब ई बुद्ध सरना पैदा हुआ है , सुसरा बाह्मणों पर ही कहानी लिखता है । कबाब की इन हड्डियों को निकालने में ही ब्राह्मणों

का हुलिया टैट है । " [2]

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि सामाजिक न्याय की बात सर्वप्रथम बौद्धमत में ही उठायी गई थी । बौद्ध धर्म की एक सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि उसने जाति-प्रथा के खिलाफ़ अपनी लड़ाई को सतत जारी रखा और वर्णाश्रमियों के सामने कभी भी हथियार नहीं डाले । महायान के आरंभ के समय बौद्ध धर्म कुछ परिवर्तित होकर हिन्दू धर्म के समीप आता हुआ दिखता है, परन्तु तब भी सिद्धान्ततः जाति-प्रथा का अनुसरण उसने कभी नहीं किया । अतः महायान बिगड़कर जब मंत्रयान और वज्रयान बनने लगा तब भी जातिवाद के खिलाफ़ उनकी लड़ाई वैसी ही बरकरार रही । बौद्ध धर्म ने जातिवाद का जो डटकर मुकाबला किया था उसके कारण ही मध्यकाल में निर्गुण मत का प्रचार करने वाले संतों को यह साहस हुआ कि वे भी जाति-प्रथा को न माने । वस्तुतः निर्गुण मत की पृष्ठभूमिका निर्माण यहीं से हुआ था । मध्यकाल के निर्गुण संप्रदाय के संत कई मामलों में बुद्ध के खानदान में पड़ते हैं और उनका वैराग्य, उनकी निवृत्ति-वादिता, उनका फक्कड़पन, उनका सभी जातियों को बराबर मानने का आग्रह और उनका यह विश्वास कि देवता मंदिर में नहीं, अपितु मनुष्य के हृदय में है, ये सारी की सारी बातें बौद्ध धर्म की अच्छी और बाद में बिगड़ी हुई परंपरा से निकले हैं । अगर बुद्ध नहीं होते तो इस देश में दादू और कबीर, नानक और हरिदास निरंजन में से कोई नहीं होता । जातिप्रथा को शिथिल करके एवं वर्णाश्रम-धर्म को चुनौती देकर बुद्ध और उनकी परंपरा के अन्य साधुओं ने ही भारत में वह अवस्था उत्पन्न की, जिसमें निर्गुणिया संतों का मत फूल-फल सका । इस देश में विशाल मानवता का आंदोलन बुद्ध का ही चलाया हुआ है और उनके समय से यह आंदोलन बराबर चलता ही आ रहा है ।[3]

इस प्रकार बुद्ध के समय से ही हमारे यहाँ दो प्रकार की विचारधाराएँ मिलती हैं। एक विचारधारा वह है जो जातिभेद को न मानते हुए सभी मनुष्यों को समान सूत्र में बाँधना चाहती है और दूसरी विचारधारा वह है जो वर्णाश्रम धर्म को उचित ठहराते हुए और उसका समर्थन करते हुए विभिन्न जातियों को अपने-अपने स्थान पर कायम रखना चाहती है। " पहली धारा के नेता बुद्ध और उनके अनुयायी तथा बाद के निर्गुणिया संत हैं तथा सिद्ध-साधु कबीर और दादूदयाल उनके बाधि हैं। उसी तरह दूसरी धारा के नेता ब्राह्मण आचार्य हुए जिन्होंने बारबार बौद्ध-धर्म को दबाकर वर्णाश्रम धर्म को ऊपर उठाने की कोशिश की और जो स्मृतियाँ रचकर जाति-प्रथा को और भी पुष्ट करते रहे। "[5]

बौद्धमत पर पुराणों द्वारा आक्रमण :

बौद्ध मत के कारण एक ऐसा चिंतन विकसित हो रहा था कि ऐसी स्थिति में वर्णाश्रम धर्मियों के लिए हिन्दुत्व को संभालना मुश्किल हो रहा था।" वाममार्गी, योगी, कापालिक, पाशुपत, वज्रयानी और जैन, प्रायः सभी संप्रदायों के साधु दिन-रात यह प्रचार कर रहे थे कि धर्म के बाह्याचार मिथ्या हैं, वेदों और शास्त्रों का अध्ययन केवल मस्तिष्क का बोझ है, ब्राह्मणों और पुरोहितों से किसीका उपकार नहीं हो सकता, तीर्थ और मंदिर में जाने से मनुष्य को कुछ भी प्राप्त नहीं होता, जाति-प्रथा झूठी है और स्मृतियों के द्वारा बताये हुए आर्य भी गलत हैं। यह भावना विशेषतः उनको प्रिय लगती थी जिन्हें जातियों की दीवार में ऊँचा स्थान प्राप्त नहीं था, मगर जो संख्या में बहुत अधिक थे। यह ध्यान देने की बात है कि सिद्धों में से अधिकांश नीची जातियों के लोग थे, और उनकी मुद्राएँ भी अक्सर छोटी जाति की स्त्रियाँ ही होती थीं। अपने विरुद्ध उठी हुई इस बगावत से लड़ने के लिए हिन्दुत्व भी तत्पर था और

वह नयी स्मृतियां रचकर अथवा पुरानी स्मृतियों में नयी शर्तों की वृद्धि करके उन सभी लोगों को सामाजिक दंड दे रहा था, जो वर्णाश्रम धर्म का बंधन तोड़ने वाले थे। इस काल में जातियों की श्रेणियां और भी बढ़ गयीं, अस्पृश्यता और छूताछूत के विचार और भी कड़े हो गये एवं शूद्रों और स्त्रियों का अनादर पहले से भी अधिक हो गया। बौद्ध मत का प्रचार देश के बाहर बड़े जोर से हो रहा था। यह बात ब्राह्मणों को अच्छी नहीं लगती थी। अजब नहीं कि इसलिए स्मृतियों में समुद्र यात्रा का निषेध प्रतिपादित किया गया हो। ब्राह्मणों और बौद्धों में सांप और नेवले का सम्बन्ध हो गया था। ... उन दिनों एक साधारण कहावत चालू हो गई थी कि मरते हुए बौद्ध के मुख में पानी देना भी पाप है।" [5]

अतः हिन्दुत्व की रक्षा हेतु शंकराचार्य और कुमारिल भट्ट जैसे महानुभाव मैदान में××× आये। शंकराचार्य ने "सर्व-प्रमाणविप्रतिषिद्ध" कहकर शून्यवाद को उपेक्षा योग्य बताया। और कुमारिल भट्ट जैसे मेधावी आचार्य ने भी कहा कि जिस प्रकार कुत्ते की खाल में रखा हुआ दूध अमेध्य होकर अनुपयोगी हो जाता है, ठीक उसी प्रकार बौद्ध धर्म की अच्छी बातों को ××× भी हमें अमेध्य समझना चाहिए। [6]

भारत में बौद्ध धर्म का जो विरोध हुआ, और जिस कटुता और तिक्तता के साथ हुआ, इससे एक बात तो भलीभांति प्रमाणित हो रही है कि बौद्ध धर्म की वर्णाश्रम विरोधी सामाजिक न्यायमूलक बातें सनातन धार्मियों को कितनी नागवार गुजरी होंगी। फलतः बौद्धमत पर हिन्दुत्व ने पुराणों द्वारा आक्रमण कर दिया। हिन्दुत्व बौद्धमत को अपने आलिंगन में कसकर मार डालना चाहता था, इसलिए वे उसकी धार को भोंथरी बना देना चाहते थे।

इसी उपक्रम में उन्होंने बुद्ध को भी विष्णु का अवतार घोषित कर दिया । कुमारिल बौद्धमत का विरोध कर्मकांड के आधार पर कर रहे थे तो शंकराचार्य ने ज्ञान का पथ लिया । वैष्णव बौद्धों को अपना प्रधान शत्रु मानते थे । यही कारण है कि बौद्धमत को नीचा दिखाने का प्रयास पुराणों में ही अत्यधिक मिलता है । इसलिए इन पुराणों में वे नई-नई धार्मिक कथाओं की सृष्टि कर रहे थे । इन लोगों के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा यह थी कि बुद्ध को कुछ लोग विष्णु के अवतार के रूप में घोषित कर चुके थे । अतः उनके मत पर आक्रमण करना वैष्णवों को असुविधाजनक लग रहा था । इस असुविधा को दूर करने के लिए एक विचित्र कथा को गढ़ा गया । उस कथा में यह कहा गया कि वैदिक विधि से यज्ञ करके असुरों ने इतना बल प्राप्त कर लिया कि वे देवताओं से फिर अधिक शक्तिशाली हो गये । इस पर देवताओं ने भयभीत होकर विष्णु से प्रार्थना कि की और विष्णु ने कृपा करके बुद्ध का अवतार लिया और असुरों से कहा कि वेद की सत्ता को मत मानो , तथा वैदिक विधि से यज्ञ मत करो , क्योंकि यज्ञ में पशु-हिंसा होती है । निदान असुरों ने यज्ञ करना छोड़ दिया और वे पुनः देवताओं की तुलना में कमजोर हो गये । इस कथा से कई भाव निकलते हैं । एक तो यह कि बुद्ध का अवतार असुरों के अकल्याण के निमित्त हुआ । दूसरा यह कि यज्ञ न करने से मनुष्य की शक्ति क्षीण होती है । तीसरा यह कि जो असुर नहीं है उन्हें बुद्ध के उपदेशों को नहीं मानना चाहिए ।[7]

विष्णु पुराण में एक और कथा आती है । उस कथा के अनुसार एक राजा मर कर श्वान योनि में पैदा होता है । उसकी पत्नी सती थी , अतः वह उस श्वान को पहचान लेती है और कहती है कि क्या महाराज आपको ज्ञात है कि आप क्यों इस श्वान योनि में पैदा हुए । वस्तुतः तीर्थ-[illegible] स्नान के बाद पाखण्डी से भाषण करने के कारण आपको यह कुत्सित योनि

प्राप्त हुई है । इस कथा में पाखण्डी से अभिप्राय जैन या बौद्ध श्रमण से है । वे नीच हैं और पुण्यात्मा लोगों को इन पाखण्डियों से अर्थात् जैनों या बौद्धों से बात भी नहीं करनी चाहिए । इस मतलब का एक श्लोक भी विष्णु पुराण में मिलता है जिसका अर्थ है वेद-बाह्य कर्म करने वाले, मार्जारव्रत धारण करने वाले, हेतुवादी और वक्र-वृत्ति पाखण्डियों की, शब्दों से भी पूजा न करें । [8]

अभिप्राय यह कि जब तक बौद्ध धर्म के श्रमणों में चरित्र-बल का तप था, तब तक तो ब्राह्मण उनका कुछ भी नहीं बिगाड़ सके और यदि वे लोग अपने जनोद्धार के कल्याण मार्ग से विचलित न होते तो उनकी कोई हानि न होती । परन्तु वैसा न करके पुराणों के आक्रमण से अपनी रक्षा करने के लिए वे एक प्रकार के महापंक में कूद पड़े । एक के बाद एक तंत्रों की रचना करके वे अपने संप्रदाय की रक्षा करने का प्रयत्न करने लगे । पर दिन में बुद्ध की पूजा और रात में वाममार्ग को स्वीकार करके नग्न स्त्री की पूजा करने का मेल कैसे बैठता ? [9]

इस प्रकार पुराणों के सामने तंत्रों की रचना करके वे एक प्रकार से ब्राह्मणों के जाल में फंस गये । झूठ का सामना सत्य से करना चाहिए तभी उसके दूरंगामी परिणाम आते हैं । झूठ का सामना झूठ से करने में तात्कालिक सफलता भले मिले, किन्तु उसके दूरंगामी परिणाम कभी अच्छे नहीं होते । इसके कारण समाज में बौद्ध धर्म की इतनी निंदा हुई कि उसके कारण लोगों को शंकर के मायावाद में भी बौद्धों के शून्यवाद की गन्ध आने लगी । शंकर के अद्वैत के स्थान पर रामानुज, निम्बार्क, माधव, वल्लभाचार्य आदि के द्वैत या विशिष्टाद्वैत मत का अधिक प्रचार हुआ ।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने ग्रन्थ "मध्यकालीन धर्मसाधना" में लिखा है :" कूर्मपुराण के 16 वें अध्याय में कहा गया

है कि शिवजी की प्रेरणा से विष्णु ने ही कपाल , लकुल , वाम , भैरव आदि हजारों मोहशास्त्रों की रचना की थी । सांख्य-प्रवचन भाष्य में पद्मपुराण के कुछ श्लोक उद्धृत किये गये हैं , जिनमें शिवजी ने पार्वती को सम्बोधन करके कहा है कि हे देवि ! मायावाद बड़ा असत् शास्त्र है । मैंने ही कलयुग में ब्राह्मण का रूप धारण करके इस शास्त्र की रचना की है । इसमें मैंने श्रुति-वाक्य का गलत अर्थ किया है और कर्म-स्वरूप की त्याज्यता का प्रतिपादन किया है । सर्व कर्मों के परित्याग को बता करके नैष्कर्म्य -भावना का मैंने समर्थन किया है । यह प्रच्छन्न बौद्ध मत है ।" [10]

इस प्रकार पंडितों ने शंकर को भी दंडित करने का प्रयास किया है , क्योंकि उनको शंकर के मत में बौद्धमत की गंध आने लगी थी । इस प्रकार बौद्ध धर्म ही नहीं , बौद्ध धर्म का प्रभाव भी कहीं है तो वे उसको त्याज्य समझते थे । बौद्ध धर्म का विरोध करने के लिए उन्होंने कई प्रकार के षडयंत्र किये थे । आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीजी ने ऊपर जो "कूर्मपुराण" की बात कही है , वह भी उन षडयंत्रों का ~~xxxxxx~~ एक हिस्सा ही है ।

जैनों और बौद्धों पर शैवों के प्रहार :

सातवीं शताब्दी के अंतिम चरण में दक्षिण में पांड्य शासन काल में सुन्दर पांड्य ने जैनों पर नाना प्रकार के अत्याचार ~~xxxxx~~ किये थे । धर्मानंद कोशाम्बी अपने ग्रन्थ "भारतीय संस्कृति और अहिंसा " में लिखते हैं --" ईसा की सोलहवीं शताब्दी में सिंहल द्वीप का राजा राजसिंह अपने पिता को मारकर गद्दी पर बैठा । उसने बौद्ध संघ को आमंत्रित करके उससे पितृवध का प्रायश्चित पूछा । भिक्षु-संघ ने व्यवस्था दी कि प्रायश्चित देना हमारे बस की बात नहीं है । तब उसने शैव धर्म स्वीकार कर लिया और भिक्षु-संघ पर भयंकर अत्याचार शुरू कर दिया । चार-पांच वर्ष के अन्दर

ही सारे सिंहल-द्वीप में एक भी भिक्षु नहीं रह गया ।"[11]

सन् 1065 ई. में चंदेल राजा कीर्ति वर्मा के राज्यकाल में कृष्ण मिश्र नामक एक दंडी परिव्राजक ने "प्रबोध चन्द्रोदय" नामक नाटक लिखा था । यह नाटक कीर्तिवर्मा के सम्मुख खेला भी गया था । प्रस्तुत नाटक में जैन और बौद्ध श्रमणों का जो रूप अंकित किया गया है वह अत्यन्त पतित और घृणास्पद है । उसके कुछ अंश यहां प्रस्तुत है :

"दिगम्बर / जैन/ : आत्मा विमल स्वभाव है और उसका ज्ञान ऋषि-परिचर्या से होता है । क्या कहते हो ? यह ऋषि-परिचर्या कौन-सी ? तो फिर सुनो । दूर से दंडवत् करो और सत्कारपूर्वक उन्हें मिष्टान्न भोजन दो यदि वे तुम्हारी स्त्रियों से अति-प्रसंग करें तो अपने मन में ईर्ष्या-मल उत्पन्न न होने दो ।

भिक्षु / बौद्ध / : अरे, यह सौगत धर्म, सचमुच अच्छा है जिसमें सौख्य है और मोक्ष भी । सोने को उत्तम आवास, अपनी पसंद की बनियों की स्त्रियां, नियमित समय पर मिष्ट भोजन, उत्तम बिछौने, श्रद्धा से स्त्रियां पूजा करती हैं और, इस प्रकार, बड़े आराम से चांदनी रातें कट जाती हैं ।

कल्पना — सखि, तरुण ताड़ के वृक्ष के समान ऊंचा, काषाय वस्त्र धारण किये, मुण्डित सिर यह कौन आ रहा है ?

भिक्षु — भिक्षुओ ! भगवान सुगत का यह वचनामृत सुनो । /पुस्तक पढ़ता है / मैं दिव्य चक्षु से लोगों की सुगति और दुर्गति देखता हूं । सब संस्कार क्षणिक हैं । आत्मा स्थायी नहीं । इसलिए, भिक्षु स्त्रियों से अति-प्रसंग करें, तो भी ईर्ष्या न करें, कारण ईर्ष्या चित्तका मालिन्य है ।

भिक्षु — अहा हा, इस कपालिनी का स्पर्श कितना

सुखकर है । मैंने , न जाने , कितनी रांडों का आलिंगन किया होगा । पर , मैं सौ बार बुद्ध की सौगंध खाकर कहता हूं कि ऐसा आनंद मुझे कभी नहीं मिला । सचमुच , कापालिकों का कार्य बड़ा पुण्यप्रद है और यह सोमसिद्धान्त अवर्णनीय है । यह धर्म आश्चर्यजनक है । हे महाभाग ! मैंने बुद्ध-धर्म बिलकुल छोड़ दिया । अब मैं परमेश्वर सिद्धान्त में प्रवेश करता हूं । इसलिए , तुम मेरे आचार्य और मैं तुम्हारा शिष्य । मुझे परमेश्वरी दीक्षा दो ।

/ और क्षपणक भी गदगद होकर कहता है / क्षपणक -- /रोमांचित होकर / अरिहंत ! अरिहंत ! कापालिनी के स्पर्श में कैसा सुख है । सुन्दरी , दे , दे , पुनः मुझे आलिंगन दे । ... अरे , कापालिकों का दर्शन सुख का और मोक्ष का साधन है । कापालिक ! अब मैं तुम्हारा दास हो गया हूं । मुझे भी महाभैरव के अनुशासन की दीक्षा दो । [12]

यहां पर नाटककार ने किसीको भी बख़्शा नहीं है । जैन और बौद्ध भिक्षुओं तथा पाशुपत कापालिकों द्वारा धर्म और नैतिकता की जो दशा उन दिनों हो रही थी , उसका नाटक में यथार्थ आकलन है । प्रस्तुत नाटक में तत्कालीन समाज पर यथेष्ट प्रकाश डाला गया है । शैव कापालिकों ने तलवार , स्त्री और मदिरा इन तीन साधनों का उपयोग करके बौद्ध एवं जैन श्रमणों को अपने पंथ में आने को बाध्य किया होगा , और जहां यह संभव नहीं था , वहां उनका उच्छेद किया होगा । ब्राह्मणों और बौद्धों के बीच जो संघर्ष हुए उसके फलस्वरूप स्मृति-ग्रन्थों में कड़े अनुशासनों की व्यवस्था की गयी । इसके परिणामस्वरूप छुआछूत और जात-पांत के बंधन और भी कड़े कर दिए गए । धर्म नीतिप्रधान न रहकर रूढ़िप्रधान हो गया । ज्यों-ज्यों ब्राह्मणत्व अपनी पवित्रता की रक्षा के लिए नये-नये चंगुल निकालता जाता था , त्यों-त्यों उन लोगों पर अत्याचार और जुल्म बढ़ता जाता था । जो समाज

के निम्न स्तर पर थे और जो जन्मना कलंकित होने के अभिशाप से बचने के लिये, उस दल की ओर बढ़े जा रहे थे जो दल बौद्ध संतों के प्रभाव में था और जिसे सिद्धों के ये उपदेश बहुत अच्छे लगते थे कि मनुष्य को श्रेष्ठता जन्म से नहीं, कर्म से मिलती है, और वे सारे शास्त्र अनादरणीय हैं जो मनुष्य को मनुष्य से हीन बताते हैं। [13]

प्रस्तुत नाटक में प्रकारान्तर से यह भी दिखाया गया है कि बढ़ते हुए बौद्ध-प्रभाव को रोकने के लिए अन्य धर्मों और पंथों की ओर आकर्षित करने के लिए उन लोगों ने कैसे-कैसे हथकण्डों का इस्तेमाल किया था। सुरा-सुंदरी के शस्त्र से उनको पराजित किया गया। अर्थात् जो काम वे शास्त्रों से नहीं कर पाये उसको उन्होंने इस तरह से किया।

इस्लाम का आगमन :

डा. रामधारी सिंह दिनकर ने अपने "संस्कृति के चार अध्याय" नामक ग्रन्थ में निर्देशित किया है कि जब इस्लाम का आगमन हुआ तब भारत में बहुत-से अवैदिक और वेद-बाह्य संप्रदाय अस्तित्व में थे जो वर्णाश्रम व्यवस्था को नहीं मानते थे। इस प्रकार इस्लाम के आगमन के पूर्व ही यहां कुछ इस्लामवत् संप्रदाय थे। इस संदर्भ में उनका निम्नलिखित कथन विचारणीय है —

" जब इस्लाम आया, उसे इस देश में फैलने में देर नहीं लगी। तलवार के भय अथवा पद के लोभ से तो बहुत थोड़े ही लोग मुसलमान हुए, ज्यादा तो ऐसे ही थे, जिन्होंने इस्लाम का वरण स्वेच्छा से किया। बंगाल, कश्मीर और पंजाब में गांव के गांव एक साथ मुसलमान हो गये। शहरों के किनारों पर जो अछूत लोग बसते थे, उन्हें मुसलमान बनाने के किसी खास आयोजन की आवश्यकता नहीं हुई। ये अछूत शहरों के भीतर नहीं बस सकते

थे , जहां ऊंची जातियों का प्राधान्य था और ये ऊंची जातियां अछूतों को पशु से भी हीन समझती थीं । सच पूछिये तो मुसलमानों के आगमन के पूर्व ही , इस देश में बहुत-से हिन्दू वर्णाश्रम धर्म को छोड़ एक ऐसी जगह पर जा खड़े थे , जहां वर्णाश्रम का कोई प्रभाव नहीं था । वे जात-पांत को नहीं ~~मानते थे~~ मानते थे । तीर्थ-व्रत और प्रतिमा-पूजन में उनका विश्वास नहीं था । वे शून्य , अलख निरंजन या निराकार की उपासना करते थे । ऐसे विश्वासवत्सलों का जब इस्लाम से सामना हुआ होगा , तब अजब नहीं कि उन्हें हिन्दुत्व की अपेक्षा इस्लाम ही अधिक अनुकूल दिखायी पड़ा हो । बौद्धों के दीर्घकालीन प्रचार ने , आखिरकार , समाज में एक ऐसा समुदाय तैयार कर दिया जो निराकार को पूजता था और जाति-प्रथा का द्रोही और स्मृतियों का विरोधी था । सिद्ध , नाथपंथी और बाद के निर्गुनिया संत इन्हीं बौद्ध प्रचारकों के उत्तराधिकारी थे । कट्टर ब्राह्मण-धर्म से बौद्ध-मत अपनी रक्षा तो नहीं कर सका , किन्तु उसने ऐसी अनेक संतानें उत्पन्न कर दीं , जो ब्राह्मणत्व से आज तक युद्ध कर रही है ।[14]

वस्तुतः अवैदिक या वेद-बाह्य कहकर हिन्दुत्व ने जिन लोगों को उपेक्षित या तिरस्कृत किया , ऐसे सबके सब लोग मानसिक धरातल पर हिन्दुत्व से अलग होने के लिए उद्यत थे । दशवीं शताब्दी में ब्राह्मण-धर्म संपूर्ण रूप से अपना प्राधान्य स्थापित कर चुका था , फिर भी बौद्धों , ~~शाक्तों~~ शाक्तों और शैवों का एक बड़ा भारी समुदाय ऐसा था जिनको ब्राह्मण और वेद की प्रधानता स्वीकार्य नहीं थी । जब मुसलमान इस देश में आये तब इन लोगों का मन विचलित होने लगा । वैदिक धर्म के प्रति उनके मन में सम्मान का भाव नहीं था । निराकार भावना का प्रचार उनमें था । इस्लाम में भी निराकार की उपासना थी । अतः उसकी ओर आकर्षित होना स्वाभाविक ही था ।

डा. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने ग्रन्थ "मध्यकालीन धर्म-साधना" में लिखा है — " पूर्वी बंगाल के वेदबाह्य संप्रदायों के ध्वंशावशेष कई धार्मिक सम्प्रदाय ऐसे थे, जिन्होंने मुसलमानों को अपना त्राणकर्ता समझा। वे समूह-रूप में मुसलमान हो गये। पंजाब में भी नाथों, निरंजनों और पाशुपतों की अनेक शाखाएं मुसलमान हो गयीं। गोरखनाथ के सम्प्रदाय में अनेक बौद्ध, शैव, शाक्त सम्प्रदाय अन्तर्भुक्त हुए, परन्तु, इस सम्प्रदाय के भी बहुतेरे गृहस्थ मुसलमान हो गये।" [15]

डा. हजारीप्रसाद द्विवेदीजी ने अपनी "कबीर" नामक पुस्तक में निर्दिष्ट किया है कि आज की वयनजीवी जातियों में से अधिकांश जातियां ऐसी थीं जो ब्राह्मणों की श्रेष्ठता को नकारती थीं। ऐसी जातियों में "जोगी" नामक एक जाति थी। यह जाति आश्रमभ्रष्ट घर-बारियों की जाति थी और उत्तर और पूर्व भारत में फैली हुई थी। ये नाथपंथी थे। और कपड़ा बुनकर या सूत कातकर या गोरखनाथ और भरथरी के नाम पर भीख मांगकर अपनी आजीविका चलाते थे। ये निराकार की उपासना करते थे। जातिभेद, ब्राह्मण-श्रेष्ठता और अवतारवाद को नकारते थे। तत्कालीन हिन्दू समाज की दृष्टि में ये नीच और अस्पृश्य थे। मुसलमानों के आने के पश्चात, धीरे-धीरे ये मुसलमान होते रहे। पंजाब, उत्तरप्रदेश, बिहार और बंगाल में इनकी कई बस्तियों ने सामूहिक रूप से इस्लाम को अंगीकृत किया। ऐसा लगता है कि मुसलमानों के आगमन से पूर्व इस देश में एक ऐसी श्रेणी भी थी जो ब्राह्मणों से संतुष्ट नहीं थी और जिन्हें वर्णाश्रम के नियम मान्य नहीं थे। नाथपंथी योगी ऐसे ही थे। उस समय हुए रमाई पंडित के "शून्यपुराण" से ज्ञात होता है कि उस समय कुछ तांत्रिक प्रकार के बौद्ध थे जो मुसलमानों को "धर्म-ठाकुर"

समझते थे । उन्हें यह आशा थी कि अब क्रमशः पुनः एक बार बौद्धों का उद्धार होगा । कदाचित् ब्राह्मण विरोधी सभी मतों को वे बौद्ध ही मानते थे । रमाई पंडित के समय का समय ईसा की ग्यारवीं सदी का है । "शून्यपुराण" में इस्लाम के लिए उत्साह और स्वागत का भाव दिखाई पड़ता है । "शून्यपुराण" का कवि इस्लाम को एक प्रकार से धर्म-रक्षक के रूप में देखता है । अतः ऐसा लगता है कि बौद्धों के प्रभाव में चलने वाली हिन्दू जनता का एक अच्छा खासा वर्ग ऐसा था जो इस्लाम को हिन्दुत्व से श्रेष्ठ समझता था । उनको ऐसा विश्वास था कि ब्राह्मणों और शास्त्रों की मिलीभगत से उन पर जो अत्याचार हुए हैं, मुसलमानों के हाथों उस अत्याचार का अन्त होगा । मुसलमान जब पंजाब में उधम मचा रहे थे, तब उनके उपद्रवों से दूसरे लोग चाहे रूट हुए हों, किन्तु "शून्यपुराण" का कवि बहुत प्रसन्न था ।[16]

बौद्ध धर्म का लोप :

भारत में बौद्ध धर्म लुप्त कैसे हुआ उसके दो उत्तर बताए जाते हैं । एक तो यह कि जनाधार के कारण हिन्दू रूप धारण करने पर विवश होना पड़ा । अतः उसकी क्रान्तिकारी धार कुंठी हो गयी । वह पुनः उन्हीं मकड़जालों में फंस गया । दूसरा मत यह है कि बौद्ध धर्म की समाप्ति मुस्लिम आक्रमण के कारण हुई क्योंकि मुसलमानों ने बौद्ध संघों और विहारों को नष्ट कर दिया । इसके नष्ट होने पर बौद्ध धर्म जी नहीं सकता था क्योंकि संघ और विहार बौद्ध धर्म के प्रतीक थे । इसके विपरीत मंदिरों के विनष्ट होने पर भी हिन्दुत्व जीवित रहा क्योंकि वह मंदिरों में कम गृहस्थों के आचार-विचार और दैविक अनुष्ठानों में अधिक बसता था । ईसाइयत और बौद्ध मत के समान हिन्दुत्व में कभी भी धर्म का संघ नहीं बनाया । यह भी एक प्रच्छन्न कारण रहा । वस्तुतः जो जनता बौद्ध थी वह भी

अनुष्ठान और दैनिक क्रिया-कलापों में हिन्दू के समान थी । फलतः जब विहार और संघ नहीं रहे तब यह जनता पुनः पुनः पूर्णरूपेण हिन्दू हो गयी ।

डा. रामधारीसिंह दिनकर ने बौद्ध धर्म के लुप्त होने के संदर्भ में अपनी टिप्पणी दी है — " बुद्धदेव " कदाचित् उपनिषद-कालीन हिन्दुओं में सर्वश्रेष्ठ थे , इसीलिए उनकी ओर जनता वेग से दौड़ी । यहां तक कि हिन्दुओं ने उन्हें विष्णु का अवतार मान लिया । किन्तु बाद में जब बौद्ध साधु शराबियों , व्यभिचारियों एवं औघड़ों के समान आचरण करने लगे तब जनता उनके विरूद्ध हो गयी । " [17]

दलित-विमर्श और कबीर :

कबीरदास एक रहस्यवादी कवि हैं और रहस्यवादी स्वभावतः विद्रोही होते हैं । कबीरदास तो विद्रोह के अवतार समान लगते हैं । वेद , वर्णाश्रम व्यवस्था , जात-पांत का विरोध उन्होंने जिस निर्भीकता से किया वह निर्भीकता केवल बुद्ध में दिखायी पड़ी थी । धार्मिक अनुष्ठानों तथा पोंगा-पंडिताई को उन्होंने बुरी तरह से लताड़ा है । कबीरदास का महत्व इसमें है कि उन्होंने पंडितों के उस घड़े में छेद किया जिसके कारण वर्णाश्रम धर्म टिका हुआ था । उन्होंने आज से पांच सौ वर्ष वर्ष पूर्व ब्राह्मणों की श्रेष्ठता को ललकारा था । दलित जातियों में चेतना का शंख फूंकने का कार्य कबीर ने किया । जिस प्रकार एकलव्य ने बिना गुरु के गुरु की प्रतिमा स्थापित करके स्वाध्याय से धनुर्विद्या अर्जित की थी , ठीक उसी तरह कबीर यह बताते हैं कि बिना शास्त्र-ज्ञान के केवल आत्म-सूझ से ही ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है । अछूत और दलित जातियों को मंदिर प्रवेश शास्त्राध्ययन का अधिकार नहीं था । कबीरदास इन

दोनों को नकारते हुए मानो अपनी विरोधी ताकतों को चुनौती देते हैं कि हमें तुम्हारे मंदिरों और शास्त्रों की जरूरत ही नहीं है। यह अचानक नहीं हुआ है कि पूरी की पूरी निर्गुण ज्ञानमार्गी शाखा के ~~अधिक~~ संत कवि उक्त दोनों बातों को नकारते हैं, और वे सब के सब, एकाध को छोड़कर, निम्न जाति से आये हैं। इस संदर्भ में डा. रामधारीसिंह दिनकर लिखते हैं :

" कबीरदास भारत के अत्यन्त महान क्रान्तिकारी पुरुष हुए हैं। उनकी बड़ाई केवल इसी बात के लिए नहीं है कि उन्होंने साहसपूर्वक हिन्दुओं और मुसलमानों की आँखों में उँगली डालकर, उन्हें यह समझाया कि मंदिर और मस्जिद के सवाल पर झगड़ने से बढ़कर मूर्खता का कोई और काम नहीं हो सकता ; अपितु इसलिए भी कि संस्कृत के विरुद्ध उन्होंने भारत में नवीन भाषा की पताका फहरायी और संस्कृति का जो नेतृत्व ब्राह्मणों के हाथ में था, उसे उन्होंने निम्न वर्ग के लोगों के हाथों में पहुंचा दिया। कबीर की परंपरा में जो अनेक संत और महात्मा जनमे, उनमें नानक, रैदास, धन्ना, सुंदरदास, दादूदयाल, रज्जब, मलूकदास, और धरणीदास के नाम अत्यन्त विख्यात हैं और इनमें से कोई भी संत ब्राह्मण वंश में नहीं जन्मा था। स्वयं कबीरदासजी हिन्दू या मुस्लिम वर्ग के जुलाहे थे।" 18

इस प्रकार कबीरदासजी ने ब्राह्मणों की श्रेष्ठता को एक प्रकार से चुनौती दी थी। पुरोहित वर्ग संस्कृत के वेद-मंत्रों और शास्त्र-श्लोकों से छोटी जाति के लोगों को आतंकित और मूक कर देते थे। अतः उन्होंने संस्कृत के स्थान पर लोकभाषा को चेतना के शीर्ष स्थान पर बिठाया। बुद्धदेव ने भी यही किया था। कहना न होगा कि प्रत्येक युग का जननायक अपनी बात कहने के लिए लोकभाषा का ही वरण करता है। कबीर ने ज्ञानाडम्बर के

उस भाषा के पर्दे को ही हटा दिया ।

हिन्दू-मुस्लिम एकता के तीन बड़े नेता हमारे देश में हुए -- कबीर , अकबर और महात्मा गांधी । महात्मा गांधी की विशेषता यह थी कि वे किसी भी धर्म को छोटा न कहते हुए सर्व धर्म समभाव की बात कहते थे । अकबर की दृष्टि में कोई भी एक धर्म समग्रतया पूर्ण नहीं था । अतः उन्होंने सभी धर्मों के सार तत्वों को लेते हुए एक नये धर्म को चलाने की बात कही । परन्तु कबीर इन दोनों से भिन्न हैं । कबीर कहीं भी यह नहीं कहते कि हिन्दुत्व और इस्लाम दोनों अच्छे धर्म हैं , उल्टे वे तो कहते हैं कि ये दोनों अधूरे धर्म हैं । कबीर ××× की ये पंक्तियां आज के संदर्भ में भी ××××× कितनी प्रासंगिक हैं --

" हिन्दु की दया , मेहर तुरकन की , दोनों घर से भागी,
वह करै जिबह , वो झटका मारै , आगि दुओ घर लागी ।

× × × ×

" हिन्दू कहते हैं राम हमारा , मुसलमान रहमाना ,
आपस में दोऊ लड़े मरत हैं , भेद न कोई जाना ।" 19

पहले निर्दिष्ट किया जा चुका है कि कबीर एक रहस्यवादी कवि हैं और रहस्यवादी कवि प्रकृत्या विद्रोही होते हैं । वेद , वर्णाश्रम धर्म और जाति-पांति का विरोध उन्होंने उसी निर्भीकता से किया जो निर्भीकता बुद्ध में दिखायी पड़ी थी । तो दूसरी तरफ इस्लाम के अनुष्ठानों की भी आलोचना ××× उतनी बहादुरी और तिक्तता के साथ करते हैं जिसके कारण मंसूर , संत सरमद आदि को शहीद होना पड़ा था । शास्त्र , शास्त्र-भाषा और सगुण-भक्ति के विरोध के द्वारा उन्होंने भारत की दलित जातियों को एक नया रास्ता दिखाया था । संस्कृत और शास्त्र के हथियारों से उच्च वर्ग के लोग दलितों में हीनता भाव पैदा करते थे । अतः

कबीर इन दोनों को नकारते हैं । जिस प्रकार बुद्धदेव "अप्पोदीपभव" की बात करते हैं, कबीर आत्म-साक्षात्कार या आत्मानुभव की बात करते हैं । जिस भाषा और शास्त्रों पर तुम्हारा अधिकार नहीं है, कबीर उनको ही नकारने की बात करते हैं और खुला आह्वान देते हैं कि अपने शास्त्र खुद अपनी भाषा में बनाओ । निम्न जाति के लोगों को मंदिर-प्रवेश निषेध था, तो कबीर उसे भी नकारते हैं । वे कहते हैं कि ईश्वर आदि-अनादि, अजन्म, निरंजन-निराकार और अजन्मा है । उसका कोई आकार-प्रकार, रूप नहीं है । वह तो समूचे ब्रह्मांड में व्याप्त है । ऐसे ईश्वर के लिए मंदिर-मस्जिद की कोई आवश्यकता नहीं है । उसे तो अपने हृदय में धारण करना चाहिए । दूसरे "पिण्डे सो ब्रह्माण्डे" के न्याय को थोड़ा उलट-कर वे कहते हैं — "जो ब्रह्माण्डे सो पिण्डे" । अतः यह ब्रह्म जो कि समूची सृष्टि में व्याप्त है वह प्राणी मात्र के हृदय में विराजमान है । वह घट-घट निवासी है । जिस प्रकार कस्तूरी मृग की नाभि में होती है, परन्तु वह अपने अज्ञान में उसे जंगल में ढूंढता है, ठीक वैसे ही ईश्वर मनुष्य के भीतर है, परन्तु वह उसे बाहर ढूंढता है । इस प्रकार कबीर अपने देश के दलितों को आत्माभिमान से जीने का एक नया रास्ता बताते हैं । अपने समय में बुद्धदेव ने भी यही किया था । बुद्धदेव और कबीर के समय तक मार्क्सवादी विचारधारा जैसी कोई विचारधारा नहीं थी । मार्क्सवादी विचारधारा में तो धर्म को ही नकारा जाता है । परन्तु बुद्धदेव और कबीर कदाचित् भारत की मिट्टी से पूर्णतया परिचित हैं । यहां के जनसाधारण का उन्हें गहरा ज्ञान है । ये दोनों भलीभांति जानते हैं कि यहां के सामान्य लोग, गरीब असहाय दलित पीड़ित लोग, धर्म के बिना आगे बढ़ते ही नहीं है । अतः उनके कल्याण का मार्ग धर्म की राह से ही निकालना होगा । कबीर ने अपने समय में दलित समाज में क्रान्ति का शंख फूंक दिया । कबीर की परंपरा में नानक,

रैदास , धन्ना , सुंदरदास , दादूदयाल. रज्जब , मलूकदास , और धनीदास जैसे विख्यात संत-महात्मा हुए । यह एक ध्यान देने योग्य बात है कि इनमें से कोई भी संत ब्राह्मण वंश में पैदा नहीं हुआ था ।

स्वतंत्रतापूर्व दलित-जागरण :

जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट किया गया है कि बुद्धदेव के समय से जातिवाद के खिलाफ एक मुहिम चल रही थी । परन्तु इस प्रकार के आंदोलनों को अपने छल-छद्मों द्वारा ब्राह्मण वर्ग के लोग दबाने और कुचलने में सफल रहे । मध्यकाल के निर्गुन या संत कवियों का आंदोलन आगे सही दिशा में बढ़ पाया होता तो कदाचित दूसरे प्रकार का चित्र हमारे सामने होता । परन्तु वहां भी सवर्ण भक्ति-आंदोलनों ने पुनः पिछड़ी जाति के लोगों को धार्मिक कर्म-कांडों में उलझा दिया । मध्यकालीन भक्ति-आंदोलन के पश्चात् नवजागरण काल में दलित जागरण की प्रवृत्ति ने फिर एक बार अपना सिर उठाया । स्वतंत्रता पूर्व के दलित जागरण में जिन महानुभावों की महत्वपूर्ण भूमिका है उनका यहां संक्षेप में विवरण दिया जा रहा है ।

(1) गोपालराव हरिदेशमुख :

लोकहितवादी पश्चिमी वैज्ञानिक दृष्टि से परिचालित होकर गोपालराव हरिदेशमुख "लोकहितवादी" (सन् 1823-1892 ई.) ने नवसमाज तथा भारत के निर्माण हेतु अंधश्रद्धाओं , निरर्थक परंपराओं और दुर्गुणों को त्याग करने का रास्ता सुझाया था । लोकहितवादी को धर्म के व्यर्थ बाह्याडंबरों से नफरत थी । पत्थर की मूर्ति की पूजा करना तथा धर्म के नाम पर दान देना इत्यादि को वे अपव्यय समझते थे । वास्तव में जो व्यक्ति जिन्दा है , भूख से मर रहा

है , उसे बचाना और उसका उद्धार करना ही हितकारी है । उनकी इस सुधारवादी - मानवतावादी नीति की सुंदर समीक्षा तर्क-तीर्थ लक्ष्मण शास्त्री जोशी ने की है । लोकहितवादी के अनुसार सुधार-कार्य की कुछ दृष्टि से अज्ञान , दुराभिमान , कर्मकांड तथा धर्म-विषयक कल्पनाएं हिन्दू समाज की व्याधियां हैं ।[20]

(2) महात्मा ज्योतिबा फुले (सन् 1827-1890 ई.) :

दलित चेतना और जागरण में महात्मा ज्योतिबा फुले का योगदान महत्वपूर्ण एवं अपरिहार्य है । उन्होंने "मनु-स्मृति" को अपवित्र ग्रन्थ के रूप में जाहिर किया था । उन्होंने हजारों शूद्रातिशूद्र जातियों के लोगों को संगठित करके सामाजिक विषमता के विरुद्ध एक विद्रोह शुरू किया था । अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए उन्होंने सन् 1873 में "सत्यशोधक समाज " की स्थापना की थी । इस संस्था के द्वारा उन्होंने हिन्दू धर्म में प्रचलित वेद , श्रुति , स्मृति , पुराण आदि के अनेक सिद्धान्तों और मतों को आह्वान दिया । शब्द-प्रमाण से उन्होंने विचार-प्रमाण और बुद्धि-प्रमाण को अधिक महत्व दिया । इस प्रकार महात्मा फुले का यह "सत्यशोधक आंदोलन " शोषितों और दुर्बलों की विद्रोहमयी चेतना को वाणी दे रहा था । सत्यशोधक समाज से भी पूर्व महात्मा फुले ने दलितों के उद्धार का काम प्रारंभ कर दिया था । सन् 1852 में उन्होंने दलितों के बच्चों के लिए पूणे में एक पाठशाला शुरू कर दी थी । पूणे के ब्राह्मण समाज द्वारा उसका विरोध भी हुआ था । सन् 1868 में उन्होंने दलितों को पानी भरने के लिए अपने घर के हौज को सार्वजनिक बना दिया था । बालिकाओं के लिए स्कूल खोलने का प्रारंभ भी फुले-दम्पति (ज्योतिबा फुले तथा सावित्रीबाई फुले) ने ही किया था और तब उन पर पत्थर , गोबर और उपले फेंके गए थे । इस प्रकार "नारी-विमर्श " और "दलित-विमर्श " दोनों का

श्रीगणेश फुले दम्पति द्वारा ही हो गया था । ज्योतिबा के विचार "ज्योतिबा ग्रन्थावली " में संकलित है । कहीं-कहीं पर इसमें उन्होंने कथोपकथन शैली को भी अपनाया है । उनके व्यंग्य बड़े पैने , नुकीले और तर्काधारित होते थे । उन्होंने ~~प्रह्लाद~~× प्रह्लाद को "भक्त" नहीं बल्कि पितृहन्ता माना है । उस पूरी कथा की ऐतिहासिकता को उन्होंने स्पष्ट किया है ।[21]

(3) गोपालगणेश आगरकर (सन् 1856-1895 ई.) :

आगरकर एक महान समाजसुधारक थे । प्राचीन परंपरागत रूढ़ियों के खिलाफ़ उन्होंने जो विद्रोह किया उसके कारण उन्हें सामाजिक संघर्षों और सामाजिक आरोपों का मुकाबला करना पड़ा । अपनी इस सुधार-प्रवृत्तियों केलिए उन्होंने "सुधारक" नामक एक साप्ताहिक पत्र को चलाया था । इस पत्र के द्वारा उन्होंने बालविवाह , जाति-भेद , अस्पृश्यता जैसी मानव-संस्कृति को कलंकित करने वाली प्रथाओं पर कुठाराघात किया था । वे मानते थे कि जातिभेद से देशाभिमान संकुचित हुआ है । जातिभेद के कारण ही ज्ञान , कला और शास्त्र कुंठित हुए हैं । जातिभेद के कारण ही हमारी भूतदया , हमारा बंधुप्रेम, हमारी उदारता , हमारी धर्म-बुद्धि , हमारी परोपकारिता और विचारों के क्षेत्र संकुचित और मर्यादित हुए हैं । अस्पृश्यता पर उन्होंने वज्रप्रहार किए थे । यथा —" समाज की विलक्षण रूढ़ि के कारण उच्चत्व -नीचत्व अस्तित्व में आकर , तदनुसार जो व्यवसाय विभाग सहज ही बना है , उसे ईश्वरकृत और सनातन मानकर उच्च वर्ग में उत्पन्न लोगों ने नीच वर्ण में उत्पन्न लोगों को अपवित्र और अस्पृश्य मानना , इससे मनुष्य की वैचारिकता के लिए लांछनास्पद ऐसी दूसरी बात नहीं है । "[22] इस प्रकार आगरकरजी ने 19वीं शताब्दी में महाराष्ट्र के रूढ़िग्रस्त सामाजिक वातावरण में एक नयी

फूंकने का कार्य किया था । दलितों को उनकी हीनावस्था से ऊपर उठाने का और उन्हें समाज में उचित प्रतिष्ठा दिलाने का कार्य उन्होंने उस समय किया था ।

(4) महर्षि प्रो. अन्नासाहब कर्वे (सन् 1858- 1962) :

महर्षि प्रो. अन्नासाहब कर्वे एक समाज-सुधारक थे । इन्होंने अपने सुधार-कार्य में उन परावलंबी लोगों पर ध्यान दिया जो जाति-व्यवस्था के शिकार थे । प्रचलित मानव-विरोधी रूढ़ियों के खिलाफ़ आंदोलन छेड़ने के लिए उन्होंने कुछ संस्थाओं की स्थापना की थी । महिलाओं और गांव के गरीब लोगों के स्तर को ऊपर उठाने के लिए उन्होंने उनके लिए उचित शिक्षा की व्यवस्था की । इस प्रकार महर्षि कर्वे सामाजिक न्याय और सामाजिक समता के प्रतिपादक थे । उनका विश्वास था कि समाज में समता तभी स्थापित होगी जब जाति-प्रथा को निष्प्रभ बना दिया जायेगा । अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने "समता संघ" नामक संस्था की स्थापना की । इस "समता संघ" के बाद उसीकी प्रशाखा "जाति-उच्छेदन संस्था" की स्थापना की । अपने इन सुधारवादी विचारों के प्रचार हेतु उन्होंने एक मासिक बुलेटिन का प्रकाशन भी शुरू किया था । अपने अनुभवों से कर्वे साहब जान गये थे कि जब तक जाति-व्यवस्था पर जोरदार हमले नहीं किए जायेंगे तब तक सामाजिक समता स्थापित नहीं हो सकती । "जाति-उच्छेदन" संस्था की स्थापना उन्होंने सन् 1948 में की थी । महर्षि कर्वे के सामाजिक समता के विचार में दलित कल्याण की भावना प्रमुख थी । समाज में दलितों को समानता दिलाने के लिए तथा उनके साथ मानवतापूर्ण और न्यायपूर्ण बर्ताव करने के लिए डा. बाबा साहब आंबेडकर ने जीवनपर्यन्त एक जेहाद चलायी थी । महर्षि कर्वे भी उसी जेहाद की एक सशक्त कड़ी हैं । जाति-उच्छेदक संस्था के उपरांत उन्होंने "जात-पांत तोड़क मंडल" की स्थापना भी

की थी । वे कहते हैं --" मैं अत्यन्त सुखी हूं । मुझसे जो संभव था , वह सारा मैंने किया । केवल विधवाओं के लिए ही नहीं , केवल नारी-शिक्षा के लिए ही नहीं , दलितों के लिए भी जितना संभव था , करता रहा ।" 23

~~श्रीमन्त~~ ×× [5] श्रीमन्त महाराजा सयाजीराव गायकवाड [सन् 1863-1939]

बड़ौदा के महाराजा सयाजीराव गायकवाड तृतीय बड़े उदार मतवादी राजकर्ता थे । अपने राज्य में उन्होंने जातिभेद को स्थान न देते हुए विभिन्न जातियों के लोगों को नौकरियों में रखा था । राज्य के सभी वर्ग और जातियों की बुद्धिमत्ता और कर्तृत्व का लाभ हो , यही महाराज का दृष्टिकोण था । यद्यपि मंत्री-परिषद में और ऊंची नौकरियों में सवर्ण काबिज थे , अतः उनकी ~~सम्भव~~ सर्वथा उपेक्षा भी वे नहीं कर सकते थे , परन्तु अपनी तरफ से दलितोद्धार के लिए यथासंभव जो बन पड़ता था वे अवश्य करते थे । शूद्रातिशूद्र तो नहीं , किन्तु कुछ ~~ही~~ पिछड़ी जातियों को अपने राज्य की नौकरियों में उन्होंने अग्रिमता दी थी । सन् 1909 में पुणे में डिप्रेस्ड क्लास मिशन सोसायटी के एक कार्यक्रम में महाराजा उसके अध्यक्ष थे । उस कार्यक्रम में उन्होंने दलितों का मार्गदर्शन किया था जो दलितोद्धार आंदोलन को बल प्रदान करने वाला था । उस समय सनातनी हिन्दुओं का समाज में बहुत वर्चस्व था । महाराजा स्वयं मानते थे कि इन सनातनी हिन्दुओं का विरोध करके दलितों का दुःख-दैन्य दूर करना , उन्हें शोषण से मुक्ति दिलाना , इज्जत और स्वाभिमान की जिन्दगी जीने योग्य बनाना बड़ा मुश्किल काम था । महाराजा ने एक बार सखेद कहा था कि दलित विद्यार्थियों को पढ़ाने का काम ऊंची जाति के शिक्षकों को अरूचिकर था । इसलिए दलित पाठशालाओं के लिए उन्होंने ईसाई और मुसलमान शिक्षकों को बाहर से बुलाया था । महाराजा

दलितों को कहते थे कि तुमको "डिप्रेस्ड" या "दलित" कहा जाता है, यह मुझे अच्छा नहीं लगता है, पर तुम्हें वास्तव में ऐसी दलित अवस्था में रहना है या सिर कुछ ऊपर उठाना है, यह पूर्णतया तुम्हारे अपने प्रयत्नों पर निर्भर है। श्रीमन्त महाराजा सयाजीराव गायक -वाड दलितों के प्रश्न पर व्यापक रूप से विचार किया करते थे। उन्होंने देखा कि समाज में हिन्दुओं की धार्मिक ~~रूढ़ियाँ~~ रूढ़ियां और परपराएं अस्पृश्यता का समर्थन करती हैं, जो मानवता की दृष्टि से सर्वथा अनुचित है। सन् 1909 अक्तूबर में बम्बई में "डिप्रेस्ड क्लास मिशन" सोसायटी के कार्यक्रम में उन्होंने कहा था कि किसी समाज में स्थायी रूप से दलित वर्ग का होना मानवता के हक में नहीं है। अतः इस अन्याय का निवारण राष्ट्रीय स्तर पर होना चाहिए। इससे इतना तो स्पष्ट होता है कि दलितों के संदर्भ में महाराजा के विचार काफी प्रगतिशील थे अतएव सराहनीय कहे जा सकते हैं। महाराजा के इस प्रदान को विस्मृत नहीं किया जा सकता कि डा. बाबासाहब आंबेडकर के भीतर जो महान प्रतिभा थी उसे उन्होंने पहचाना था। उन्होंने देखा कि यह एक बिन तराशा हुआ हीरा है (अनकट डाइमण्ड)। अतः बड़ौदा राज्य की ओर से उन्होंने अंबेडकर को विदेश पढ़ने के लिए भेजा। यद्यपि इसके लिए उनकी शर्त थी कि स्वदेश लौटकर कुछ वर्ष वे अपनी ~~सेवाएं~~ सेवाएं बड़ौदा राज्य को देंगे। डा. अम्बेडकर कोलम्बिया युनि-वर्सिटी से "भारत का प्राचीन व्यापार" तथा भारत में जातिभेद नामक शोध-प्रबंधों पर क्रमशः एम.ए. और पी-एच.डी. की उपाधियां हासिल करके 21 अगस्त सन् 1917 को बम्बई लौट आये। बड़ौदा राज्य की नौकरी के लिए बड़ौदा पहुंचे, परन्तु बड़ौदा में सवर्ण जातियों की ओर से उन्हें अपमानित किया गया। उनके निवास और भोजन की कोई उचित व्यवस्था नहीं थी। अतः वे बम्बई वापस लौट ~~गये~~ गये।[24] यहां एक

तथ्य ज्ञात रहे कि स्वयं महाराजा प्रगतिशील और आधुनिक विचारों के रहते हुए भी कट्टरपंथी सवर्ण राज्य-कर्मचारियों के सम्मुख कुछ-कुछ विवश-से हो जाते थे । अम्बेडकर के साथ जो हुआ उसमें बहुत-सी बातों से महाराजा अनभिज्ञ थे । कुछ भी हो अम्बेडकर को महाराजा ने डा. आंबेडकर बनाया , यह इस क्षेत्र में उनका एक ऐसा प्रदान है जिसे नकारा नहीं जा सकता । इस संदर्भ में महात्मा गांधी और महाराजा उभय को प्रच्छन्न रूप से कुछ लोगों का विरोध भी झेलना पड़ा । कुछ कट्टरपंथी सनातनी आज भी इन दोनों को अपने वैयक्तिक वर्तुलों में गालियां तक देते श्रुतिगोचर हुए हैं ।

(6) गोपालकृष्ण गोखले (सन् 1866-1915 ई.) :

भारत में अंग्रेजों के शासन काल में जिन्होंने अनेक राष्ट्रीय जिम्मेदारियों को निभाया ऐसे भारत के सेवकों में गोपालकृष्ण गोखले भी एक हैं । कुछ लोग उनको महात्मा गांधी के राजनीतिक गुरू भी मानते हैं । उन्होंने सोये हुए भारत को जगाने केलिए "भारत सेवक समाज " (सर्वण्ट्स आफ इण्डियन सोसायटी) नामक संस्था की स्थापना की । इस संस्था के द्वारा उन्होंने अलग-अलग धर्म और जाति के लोगों के विरोध को दूर करने का कार्य किया । समाज के पिछड़े लोगों में शिक्षा के प्रचार का महत्त्वपूर्ण कार्य भी इस संस्था ने शुरू किया । इस संस्था के सदस्यों को शपथपूर्वक उसकी आचार-संहिता को मान्य करना पड़ता था जिसमें सभी हिन्दुओं को भाई समझकर सभी की उन्नति के लिए पंथ जाति और भेदभाव को दूर रखने का समावेश किया गया था । 20वीं शताब्दी के प्रारंभ में गोखले ने दलितोद्धार का जो थोड़ा-बहुत भी प्रयत्न किया उससे दलित-विमर्श का मार्ग थोड़ा प्रशस्त हुआ । परन्तु यह तथ्य भी ध्यान में रहे कि सन् 1901 में डिस्ट्रिक्ट म्युनिसिपल बिल पर बोलते हुए गोखलेजी ने अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधि और जाति

आधारभूत प्रतिनिधि नियुक्त करने के सरकार के विचार का विरोध किया था ।

§7§ महात्मा गांधी § सन् 1869-1948 ई. § :

महात्मा गांधी ने जो स्वाधीनता का अहिंसात्मक संग्राम छेड़ा था , उसका उद्देश्य एक नये राष्ट्र का निर्माण था । गांधीजी केवल राजनीतिक स्वतंत्रता के कायल नहीं थे । वे सही मानों में भारत को आज़ाद करना चाहते थे । पुरानी रूढ़ियों और परंपराओं में जो मानव-विरोधी और समाज-विरोधी बातें थीं और जिनको धर्म और शास्त्र के नाम पर लागू किया जा रहा था , महात्मा गांधी ने उनका विरोध किया । परन्तु उनका रास्ता अहिंसा का रास्ता था । और शारीरिक या बाह्य हिंसा ही नहीं , वे मानसिक और सूक्ष्म हिंसा के भी विरोधी थे । अतः प्रहार द्वारा नहीं , अपितु समझदारी द्वारा लोगों को उन्होंने अपनाया था । वे समूचे भारतीय समाज के हृदय-परिवर्तन में विश्वास रखते थे और ऐसे परिवर्तन द्वारा ही वे अछूतोद्धार या दलितोद्धार करना चाहते थे । अस्पृश्यता को वे हिन्दू धर्म का कलंक समझते थे और उसे दूर करने के लिए उन्होंने हर संभव कोशिश की थी । महात्मा गांधी के समाज-सुधार के जो मुद्दे थे उनमें अस्पृश्यता निवारण और दलितोद्धार एक मुद्दा था , परन्तु महात्माजी सब शनैः शनैः समाज की मानसिकता को बदलते हुए लाना चाहते थे । इसलिए उन्होंने अहमदाबाद में सन् 1915 में सत्याग्रह आश्रम की स्थापना की । इस कार्य हेतु उन्होंने "हरि-जन सेवक संघ " की स्थापना की और "हरिजन" नामक एक अंग्रेजी साप्ताहिक 11 फरवरी सन् 1933 से शुरू किया ।

डा. बाबासाहब आंबेडकर ने जिस प्रकार अत्याचारी, अन्यायी , सनातनी हिन्दुओं के खिलाफ़ उग्र स्वरूप धारण किया और विद्रोह का शस्त्र चलाया उस प्रकार गांधीजी ने नहीं किया । डा. बाबा साहब आंबेडकर महात्मा गांधी की दलित सेवा को महज एक ढोंग समझते

थे , परन्तु यह दोनों के व्यक्तित्वों का अंतर है । जो अंतर कबीर और तुलसी में है , वही अंतर बाबासाहब और गांधी में है । परन्तु महात्मा गांधीने इस दिशा में कुछ नहीं किया , यह कहना उनके साथ नाइन्साफी होगी । जो प्रखरता और उग्रता बाबासाहब में है , वह प्रखरता और उग्रता महात्मा गांधी में नहीं है ।

महात्मा गांधी ने भारतीय समाज या हिन्दू समाज से अस्पृश्यता को हटाकर दलितों को न्याय , समता , प्रतिष्ठा प्रदान करने के लिए जो जो किया उसमें उन्होंने दलितों को उकसाने का प्रयत्न नहीं किया । शांति और दया से लोगों का हृदय-परिवर्तन कराना ही उनका मार्ग था । अस्पृश्यता की समस्या को जब गांधीजी ने अपने हाथ में लिया और उसके खिलाफ़ लड़ाई शुरू की तब उन्होंने अस्पृश्यों को अपने मानवीय अधिकारों के लिए उसमें शामिल होने के लिए नहीं कहा । इसका कारण यह था कि गांधीजी ने पूरे देश का दौरा किया था और वे अस्पृश्यों की स्थिति से पूरी तरह अवगत थे । अस्पृश्यों की उस समय जो हालत थी उसके रहते हुए वे इस काबिल नहीं थे कि उस लड़ाई में शामिल हो सकें ।

जब तक उस प्रकार की पृष्ठभूमि तैयार नहीं हो जाती तब तक स्वयं अस्पृश्यों के उसमें कूद पड़ने से उनका ही नुकसान होता । कुछ इने-गिने पढ़े-लिखे अस्पृश्य जाति के नेताओं को छोड़कर अधिकांश दलित समाज में वह चेतना नहीं आयी थी । 99 % दलित वर्ग के लोग उस समय उनके साथ जो हो रहा था उसे अत्याचार या अन्याय मानते नहीं थे । वे स्वयं ब्राह्मण को देवता मानते थे और अपनी दीन अवस्था के लिए पूर्व जन्म के पाप-कर्मों को उत्तरदायी ठहराते थे । आज आज़ादी के 50 साल हो गये हैं । डा॰ बाबासाहब आंबेडकर तथा कांशीराम जैसे , रामविलास पासवान जैसे नेताओं के कारण तथा दलित साहित्यकारों के प्रयत्नों से दलित-चेतना उभर रही है , तथापि यदि हम दूर-दराज के गांवों को देखें , या ग्रामीण समाज को देखें तो

उनकी उपर्युक्त चेतना में कोई खास अंतर नहीं आया है । नगरों और महानगरों में यह चेतना है , परन्तु ग्रामीण समाज आज भी उस चेतना से विमुख है । गांधीजी ने इस चीज को समझा था , अतः गांधीजी ने अस्पृश्यता निवारण के लिए आवश्यक सभी तरह के बलिदानों के लिए सवर्ण हिन्दुओं का आह्वान किया । ऐसा आवाहन करते हुए उन्होंने यही कहा कि ऐसा करके हम , हमारे पूर्वजों ने सदियों से अ अस्पृश्य जातियों के साथ अन्याय किया है , उसका प्रायश्चित कर सकेंगे । महात्मा गांधी ने दलितों की कमजोरी देखते हुए उन्हें उनके उद्धार के संघर्ष से दूर रखना चाहा था , तो दूसरी तरफ हिन्दुओं को दलितोद्धार के लिए समर्पण की भावना का वे उपदेश देते थे । इस संदर्भ में डा. बलवंत साधु जाधव के निम्न-लिखित विचार उल्लेखनीय रहेंगे —

" महात्मा गांधी और कांग्रेस ने दलितोद्धार का कुछ भी कार्य नहीं किया है , यह आंबेडकरवादी दृष्टिकोण हमें मंजूर नहीं , तो भी ब्रिटिश साम्राज्यशाही को देश में से उखाड़ फेंकने के लिए महात्माजी ने जैसा पूरी शक्ति के साथ युद्ध किया , वैसा समाज में अस्पृश्यता का निवारण करने के लिए स्पृश्य समाज के विरूद्ध उन्होंने विद्रोह नहीं किया , यह आंबेडकर का आक्षेप तो हमें उचित ही लगता है । प्रस्तुत मत में प्र. के. अत्रे ने महात्मा गांधी के दलितोद्धार-कार्य की त्रुटि की ओर संकेत किया है ।"25

अंग्रेजों ने दलितों के लिए अलग मतदार संघ देने का निर्णय किया था । यह सब डा. आंबेडकर के प्रयत्नों से हुआ था , यद्यपि अंग्रेजों की उसमें चाल हो सकती थी । जिस प्रकार फूट डालो और राज करो की नीति से अंग्रेजों ने मुहम्मद अली जिन्ना को कांग्रेस और गांधीजी के खिलाफ कर दिया था , ठीक उसी प्रकार वे डा. आंबेडकर को भी वे गांधीजी के खिलाफ कर देना चाहते थे । गांधीजी इस "काम्युनल अवार्ड " के खिलाफ आमरण

अनसन का प्रारंभ करते हैं । और तब न चाहते हुए भी सन् 1932 में डा. आंबेडकर को "पूना करार " करने पड़ते हैं । इस कारण बहुत-से आंबेडकरवादी गांधीजी के दलितोद्धार के कार्य को शंका की दृष्टि से देखते हैं । दलितोद्धार के लिए ज्योतिबा फुले , डा. आंबेडकर , नारायण गुरु , रामास्वामी पेरियार आदि ने जो किया वह तो महत्वपूर्ण है ही किन्तु शिक्षित उदार हिन्दुओं को समझाकर अस्पृश्यता के विरूद्ध पृष्ठभूमि के निर्माण का जो कार्य गांधीजी ने किया है उसे नकारना ठीक न होगा । श्रीमन्त सयाजीराव गायकवाड ने ही आंबेडकर को विदेश पढ़ने के लिए भेजा था । सयाजीराव में इस प्रकार की जो समदेश सोच थी उसकी पृष्ठभूमि का निर्माण महात्मा गांधी के कारण ही हुआ था । अतः हमारा तो मानना है कि आधुनिक काल में "दलित-विमर्श " को तनिक भी आगे बढ़ाने का काम जिन-जिन महोदयों ने किया है , उनके उस प्रकार के काम को नकारने के बदले सराहना चाहिए ।

§8§ महर्षि विट्ठलरामजी शिन्दे § सन् 1873- 1944 ई. § :

महर्षि विट्ठलरामजी शिन्दे ने भी अछूतोद्धार के प्रश्नों को राष्ट्रीय स्वरूप देकर उसे सुलझाने के प्रयत्न अलग-अलग स्तरों पर किये हैं । उनका कार्य सराहनीय इस अर्थ में है कि इस संदर्भ में नाना प्रकार के विरोधों को मात करके दलितों के लिए जूझने वाले एक सुधारवादी - क्रान्तिकारी नेता के रूप में वे जाने जाते हैं । उन्होंने अछूतोद्धार की समस्या को पूरी गंभीरता से लेते हुए उसे एक राष्ट्रव्यापी स्वरूप दिया । अछूतोद्धार की यह प्रेरणा शिन्दे जी को अहमदनगर के भिंगार नामक गांव से प्राप्त हुई थी । भिंगार में अस्पृश्य मंडलियों की एक सभा हुई थी जिसमें उन्होंने हजारों वर्ष से अस्पृश्यों पर हो रहे अत्याचारों की दर्दभरी कथाएं सुनीं और उससे उनका मन उद्वेलित हो उठा । महर्षि शिन्दे की प्रेरणा

से नागपुर में अखिल भारतीय दलितोद्धार परिषद का आयोजन हुआ था । सन् 1920 में 25 दिसम्बर को महात्मा गांधी की अध्यक्षता में इसका एक सम्मेलन हुआ था , जिसमें दलितों के पक्ष में अनेक सुधारवादी प्रस्ताव पारित किये गये थे । उनमें एक प्रस्ताव धार्मिक प्रतिबंधों को दूर करने का था । महर्षि शिन्दे ने इस दिशा में जो कार्य किया है उसका संक्षिप्त परिचय प्रा. विलास भोइटे के एक लेख में मिलता है ।[26] महर्षि शिन्दे ने दलितोद्धार के कार्य में दलित समाज में शिक्षा के प्रसार को विशेष महत्व दिया । शिक्षा के बिना दलितों में चेतना नहीं लायी जा सकती । इसका ज्ञान महर्षि शिन्दे को महात्मा फुले की तरह पहले से ही था । उन्होंने डी. सी. मिशन की ओर से दलितों को शिक्षित करने के लिए अनेक पाठशालाएं खोलीं । शिक्षा के साथ उन्होंने दलित-संगठन पर भी विशेष बल दिया । इस प्रकार महात्मा फुले ने दलितों के उद्धार का जो बिगुल बजाया था उसे अग्रसरित करने का श्रेय महर्षि शिन्दे को जाता है । संक्षेप में कहा जा सकता है कि महर्षि शिन्दे ने दलित ~~कर्म~~ जागरण कार्य के लिए अग्रदूतों में अपना स्थान रखते हैं ।

(9) स्वातंत्र्यवीर सावरकर (सन् 1883-1966 ई.) :

आज जब एक पक्ष-विशेष के लोग छत्रपति शिवाजी , शहीद भगतसिंह , स्वातंत्र्यवीर सावरकर तथा श्रीमंत सयाजीराव गायकवाड़ जैसे महानुभावों को अपने पक्ष में भुनाने के प्रयत्न कर रहे हैं , तब इन महानुभावों की मूल विचारधारा को भी देखना परम आवश्यक हो जाता है । आज सावरकर को केवल हिन्दुत्व के घेरे में रखकर देखा जाता है , परन्तु दलितों के संदर्भ में सावरकर के विचार अन्य हिन्दुओं ~~जैसे~~ जैसे नहीं थे । सावरकर मानते थे कि अस्पृश्यता की रूढ़ि आत्मघातक है । अपने ही बन्धुओं को पशुओं से भी निम्न

समझना मनुष्य जाति का अपमान है । वे दृढ़तापूर्वक मानते हैं कि आज के स्पृश्यों और अस्पृश्यों के पूर्वज एक ही थे । अतः स्पृश्य और अस्पृश्य का भेद निराधार व्यर्थ और मानव-विरोधी है । वर्ण-व्यवस्था में उच्च-नीचता के कारण दलितों को जो निम्न और अस्पृश्य माना जाता था उसके खिलाफ़ वीर सावरकर ने बुलन्द आवाज़ उठाई थी । सावरकर का दृष्टिकोण बुद्धिवादी था । वे पोथीवादी कालबाह्य रूढ़ियों पर तीव्र हमले करते थे । उन्होंने अपने रत्नागिरि जिले में दलितोद्धार का प्रभावशाली कार्य किया था । इसके लिए उन्होंने सहभोजन , सत्यनारायण प्रचार सभा और संगठन के कार्य को अपनाया था । दलितों के मंदिर प्रवेश के आंदोलन को भी उनका साथ था । परन्तु सावरकर दलितोद्धार के लिए धर्म-परिवर्तन को आवश्यक नहीं मानते थे । यहां हम कह सकते हैं कि इस संदर्भ में सावरकर हिन्दुत्व के घेरे से बाहर नहीं निकल सके थे । उनका विश्वास था कि दलितों का उद्धार उन्हें हिन्दु रखकर ही करना चाहिए । उनका मानना था -- " जन्मजात अस्पृश्यता और जाति-भेद को समूल ~~xxx~~ उखाड़ने का बीड़ा हमने प्रारंभ से उठाया है । हिन्दु संगठन का वह एक ~~xxxxxxxx~~ अनिवार्य उपांग है । परन्तु हिन्दू राष्ट्र को पोषक होने वाले ये सुधार हिन्दू रहकर ही कुछ तो संभव होने वाले हैं और वे उस तरह हुए तो ही उन सुधारों को सुधार कहा जायगा ।" [27] यहां सावरकर हिन्दुत्व के घेरे को उल्लंघित न करते हुए दलितोद्धार की संभावना मानते हैं ।

(10) राजर्षि श्री साहू महाराज (सन् 1884-1922 ई.) :

बड़ौदा के महाराजा सर सयाजीराव गायकवाड की भांति कोल्हापुर के साहू महाराज ने भी दलितोद्धार के कार्य में महत्वपूर्ण योगदान दिया है । बल्कि यह कह सकते हैं कि जहां बड़ौदा के महाराजा के एतद विषयक कार्य परोक्ष अधिक है , वहां साहूजी

महाराज के कार्य प्रत्यक्ष हैं । उन्होंने अपने राज्य में दलित उम्मीदवारों को नौकरी में प्राधान्य देते हुए उन्हें क्लर्क के रूप में नियुक्त किया था , इतना ही नहीं उन्होंने दलितों को कोल्हापुर नगर-परिषद में भी विशेष प्रतिनिधित्व देने का प्रावधान किया था । दलितों के उत्थान के लिए उन्होंने मानो अपना जीवन समर्पित कर दिया था । इस संदर्भ में उनकी दृढ़ मान्यता है कि --" अन्याय का बहुत बुरा स्वरूप दासता है , जो संसार भर की मानव जाति को ज्ञात हो गया है । अस्पृश्यता के जिस निहित अर्थ के अनुसार हमने भारत में अपने ही अनुयायियों के बहुत बड़े हिस्से को दण्डित किया है , वह (अर्थ) दासता के स्वरूप की तुलना में इस अस्पृश्य रूप में बुरा है ।" [28] अर्थात् व्यवहार में अस्पृश्यता दासता "(स्लेवरी) से भी भयानक स्वरूप की है ।

साहूजी महाराज ने दलितोद्धार के लिए निम्नलिखित प्रत्यक्ष कार्य किये थे --

/1/ पानी भरने के नल , तालाब , कुएं , धर्मशालाएं , अस्पताल , पाठशालाएं तथा अन्य सार्वजनिक स्थानों पर से अस्पृश्यता को समूल हटा दिया ।

/2/ निःशुल्क भोजनालय शुरू किये ।

/3/ दलितों की अलग पाठशालाएं बन्द करवायीं । दलित बच्चों को भी वहीं पढ़ाया जाता था जहां अन्य वर्ग के बच्चे पढ़ते थे ।

/4/ अनेक दलितों को वकील के रूप में नियुक्त किया । साहूजी महाराज जानते थे कि तभी दलितों को न्याय मिल सकता है ।

इस प्रकार कोल्हापुर के महाराजा साहूजी महाराज बड़ौदा के महाराजा से अलग इस रूप में पड़ते हैं कि जहां बड़ौदा-नरेश अपने कुछ उच्चवर्णीय मंत्रियों की उपेक्षा नहीं कर सकते थे , वहां साहूजी महाराज ने बहुत खुलकर न्याय और मानवता का साथ दिया । अस्पृश्यता के खिलाफ वे डटकर खड़े रहे ।

§12§ कर्मवीर भाऊराव पाटिल § सन् 1887-1959 ई. § :

कर्मवीर भाऊराव पाटिल का भी इस क्षेत्र में विशिष्ट प्रदान है । उनकी दृष्टि विशाल थी । जाति और धर्म को न मानने वाले कर्मवीर भाऊराव पाटिल प्रगतिशील विचारों के थे । वे प्रकृति से ही विद्रोही स्वभाव के थे । स्वयं जैन होने के बावजूद भी जैनों के कर्मकाण्डों पर बड़े करारे प्रहार करते थे । उन्होंने महाराष्ट्र के कोने-कोने में जाकर गरीब दुर्बल मृतप्राय जन-सामान्य को जागृत करने का एक महान अभियान चलाया था । उन्होंने इन गरीबों और दलितों में स्वत्व और स्वाभिमान की भावना को उत्पन्न कर दिया । वे जातिवाद को बहुत बड़ा अभिशाप समझते थे । कोल्हापुर के रत्नाप्पा कुम्भार ने कर्मवीर भाऊराव पाटिल के शिक्षा-कार्य की उपादेयता को प्रमाणित किया है । इस संदर्भ में "रयत शिक्षण संस्था" का उल्लेख करते हुए प्रतिपादित किया है कि इस संस्था के द्वारा उन्होंने सामाजिक समरसता की की दिशा में कितना उपयोगी कार्य किया है । जात-पांत, धर्म, ऊंच-नीच की भावना आदि बातें समाज के लिए विघातक है और उससे समाज का नाश होता है । अतः भाऊराव पाटिल ने जीवन-पर्यन्त भारतीय समाज में इन विघातक स्थितियों के खिलाफ़ विद्रोह जगाने का कार्य किया ।[29]

§12§ डा. बाबासाहब आंबेडकर § सन् 1891-1956 ई. § :

दलितोद्धार और दलित-चेतना के संदर्भ में डा. बाबासाहब आंबेडकर का नाम मानवता के इतिहास में स्वर्णाक्षरों से लिखा जायेगा । जो कार्य अब्राहम लिंकन, मार्टिन ल्यूथर किंग और नेल्सन मंडेला ने किये हैं,; लगभग उसी प्रकार के कार्य डा. बाबासाहब आंबेडकर ने भारत के दलितों के लिए किये हैं । आज हमारे देश, साहित्य और

समाज और विश्व में "दलित-विमर्श" की जो समझ विकसित हुई है आधुनिक काल में उसके उद्गाता डाक्टर साहब हैं । आज समग्र देश में तथा सभी भारतीय भाषाओं में के साहित्य में दलित चेतना की जो बातें उभर कर आ रही हैं और चारों तरफ से दलित-साहित्य की बातें जो उठ रही हैं, और दलित-साहित्य के सौन्दर्य-शास्त्र को जो खंगाला जा रहा है, वस्तुतः उसकी पृष्ठभूमि का निर्माण डा. बाबासाहब आंबेडकर ने किया है । अतः यदि उनको दलितों का मसीहा कहा जाता है तो उसमें अत्युक्ति तनिक मात्र भी नहीं है । वस्तुतः और तत्वतः उन्होंने गौतम बुद्ध और कबर की परंपरा को आगे बढ़ाया है । डाक्टर साहब के पूर्व नवजागरण आंदोलन के नेताओं तथा महात्मा गांधी जैसे महानुभावों ने दलितोद्धार तथा अस्पृश्यता निवारण के जो कार्य किये थे वे आजादी के बाद विस्मृत हो जाते यदि इस महत्वपूर्ण काल में बाबासाहब का आविर्भाव न हुआ होता । महात्मा गांधी और बाबासाहब में वही अंतर है जो गोस्वामी तुलसीदास और महात्मा कबीर में है । जो सनातन हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म में है । महात्मा गांधी की एतद् विषयक दृष्टि और उसमें निहित नियत पर हम आशंका नहीं कर सकते । किन्तु जो प्रखरता और प्रतिश्रुतता बाबासाहब में है वह महात्मा गांधी में नहीं है इतना तो असंदिग्धतया कहा जा सकता है । भारत के संविधान के निर्माण में बाबासाहब की अहम भूमिका को नकारा नहीं जा सकता । संविधान में पिछड़े वर्ग के समष्टिगत कल्याण हेतु उन्होंने आरक्षण का जो प्रावधान रखवाया है वह इस वर्ग के प्रति उनकी एक महान सेवा है । आज़ादी के इन पचास वर्षों में इस दिशा में जो होना चाहिए उसका दशवां हिस्सा भी नहीं हुआ है, तथापि जो थोड़ा-बहुत हुआ है, दलितों की आंखों में जो एक चमक-सी दीख रही है, वह इस×प्रकार प्रावधान के कारण ही है । बहुत-से लोग हमारे संविधान को "भीम-संहिता" कहते हैं और बाबासाहब को आधुनिक मनु की संज्ञा भी देते हैं,[30]

किन्तु इन दोनों में जमीन-आसमान का अंतर है, उत्तर-ध्रुव और दक्षिण-ध्रुव का अंतर है। "मनुस्मृति" बहुजन समाज के अधिकारों पर पाबंदी है, उनके मानवोचित व न्यायोचित अधिकारों से उन्हें वंचित करने की साजिश है, एक षडयंत्र है। उसमें एक निश्चित वर्ग व वर्ण के हितों को सदा-सदा के लिए आरक्षित करने की चतुराई बरती गयी है; जबकि दूसरी ओर बाबासाहब का यह संविधान समग्र मानव-जाति के कल्याण हेतु है। शायद बहुत कम लोग यह जानते हैं कि बाबासाहब के मूल मसौदे में तो एस.सी., एस.टी. वर्ग के अतिरिक्त दूसरे पिछड़े वर्ग के हितों की बात भी थी, परन्तु उनकी उस बात को संविधान-समिति के दूसरे लोगों ने नहीं माना; अतः "ना मामा से काना मामा अच्छे" इस न्याय से बाबासाहब ने उक्त दो वर्गों के आरक्षण की बात उसमें रखी थी। "मनु-स्मृति" जहां अन्यायमूलक है, वहां बाबासाहब का यह संविधान "न्याय-मूलक" है। "मनु"-स्मृति" समर्थों और संपन्नों को और समर्थ और संपन्न करने की एक सोची-समझी साजिश थी, वहां बाबा-साहब का संविधान "पराजित मानवता" का पक्षधर है। उसमें जिनके साथ हजारों साल से अन्याय और अत्याचार हुए हैं ऐसे लोगों को न्याय दिलाने की एक मानवतामूलक साधु-चेष्टा है। एक में स्वार्थ है, दूसरे में परमार्थ। एक में अधर्म है, दूसरे में धर्म।

बाबासाहब आंबेडकर के संदर्भ में डा. बलवंतसाधु जाधव लिखते हैं -- " प्राचीन "मनुस्मृति" को भस्मीभूत करके आचरण और समाज-व्यवस्था की "स्मृति" स्थापित करने वाले, समता और स्वातंत्र्य के प्रतिपादक तथा दलितों के भाग्यविधाता डा. बाबा-साहब आंबेडकर का जीवन-कार्य दलितों के खातिर समर्पणशील और त्यागी व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब है जिसमें अनावश्यक, अन्यायी, ढोंगी प्राचीन व्यवस्था के प्रति विद्रोह का स्वर उभरा हुआ है। उस महान विभूति के जन्म से न केवल दलितों को, बल्कि मानवता को मान, प्रतिष्ठा और चेतना का स्वरूप प्राप्त

हुआ । अस्पृश्यता राष्ट्रीय प्रश्न है , उसे मानवीय मूल्य से तौलना चाहिए , अस्पृश्यता से भारतीय एकात्म जीवन खंडित हुआ है , जाति-व्यवस्था के निर्मूलन के सिवा देश संपन्न और समृद्ध नहीं होगा , हिन्दू समाज का समता की नींव पर पुनर्गठन होने की आवश्यकता है , चातुर्यवर्ण की दीवारें गिराकर एक वर्णी समाज में सच्चा राष्ट्र पलता है , इस प्रकार की भाव-विह्वलता और तड़प से कहने वाला एक इन्सान अठारह सौ इक्यानबे में उत्पन्न हुआ । उसके जनम से पददलितों का भाग्य उजागर हुआ ।"[31]

डा. बाबासाहब ने अपने सार्वजनिक जीवन में दलितोद्धार की प्रवृत्ति को अग्रिमता का क्रम दिया । दलितों के दुःखों और समस्याओं को वाणी देने के लिए उन्होंने सन् 1920 में "मूकनायक" नामक साप्ताहिक पत्र चलाया । सन् 1924 में बम्बई में उन्होंने " बहिष्कृत हितकारिणी सभा " नामक संस्था को स्थापित किया और इस प्रकार दलितों के संगठन को एक नयी दिशा प्रदान की । आगे चलकर कोल्हापुर के महाराजा राजर्षि श्री साहू महाराज से प्रेरित होकर उन्होंने इस कार्य को और भी आगे बढ़ाया । बड़ौदा के महाराजा श्रीमन्त सयाजीराव गायक्वाड की आर्थिक सहायता से उन्होंने विदेश जाकर एम.ए., पी-एच.डी. , डी.एस.सी. इत्यादि उच्चातिउच्च उपाधियों को प्राप्त किया । जीवनभर वे अध्ययनशील रहे । स्वाधीनता-संग्राम के नेताओं में बाबासाहब सबसे ज्यादा शिक्षित थे । विश्व-भर से उनको जो उपाधियां प्राप्त हुईं उनको यदि सूचीस्थ किया जाय तो पूरा श्यामपट भर जाए । उन्होंने दुनिया-भर के संविधानों का गहरा अध्ययन किया था और उसके परिणाम-स्वरूप ही उन्होंने भारतीय संविधान को आखिरी रूप दिया था । प्रथम गोलमेजी परिषद में उन्होंने भारतीय दलितों का प्रतिनिधित्व किया और उसमें उनके अधिकारों के लिए अनेक मांगें रखीं । द्वितीय गोलमेजी परिषद में भी उन्होंने उसी स्वर को दोहराया । डा. बाबासाहब

ने अपने जीवन-काल में अनेक सत्याग्रह किये जैसे कालाराम मंदिर-प्रवेश सत्याग्रह , महाड़ सत्याग्रह , मुखेड़ ग्राम का सत्याग्रह , रामकुण्ड प्रवेश सत्याग्रह , रामरथ उत्सव विषयक सत्याग्रह आदि-आदि ।[32] सन् 1935 में उन्होंने अपने धर्मान्तरण की ~~ऐतिहासिक~~ ऐतिहासिक घोषणा ~~की~~ की -- " मैं हिन्दू के रूप में जन्मा हूं , पर हिन्दू के रूप में मरूंगा नहीं ।"[33] और सन् 1956 में अपनी मृत्यु के पूर्व नागपुर में बौद्धधर्म को अंगीकृत करते हुए उन्होंने अपने शपथ का अक्षरशः पालन किया । दलित-जागरण के संदर्भ में उनका नारा था -- " दास को आगाह कर दो कि वह दास है , तभी वह विद्रोह करेगा ।"[34] दलितों के इस मसीहा के संदर्भ में विशेष जानना हो तो अब विपुल साहित्य प्रकाशित हो रहा है । बाबासाहब डा. अम्बेडकर : संपूर्ण वा मय खण्ड- । से 4 भारत सरकार के "कल्याण मंत्रालय " की ओर से प्रकाशित हुआ है । एक बात की ओर फिर-फिर ध्यान आकृष्ट करना चाहती हूं कि महात्मा गांधी की प्राथमिकता भारतीय स्वतंत्रता थी , जबकि महामना बाबासाहब की प्राथमिकता ~~अस्पृश्यता~~ अस्पृश्यता का निवारण और दलितोद्धार था । वे संकुचित मनोवृत्ति के नेता कतई नहीं थे , अन्यथा वे एस.सी. के साथ आरक्षण हेतु एस.टी. वर्ग को कभी न प्रस्तावित करते । कुछ आरक्षण विरोधी लोग अक्सर यह तर्क या कुतर्क (?) देते हैं कि बाबासाहब द्वारा प्रस्तावित आरक्षण नीति तो केवल 10-15 वर्षों के लिए थी , अब उसको बन्द कर देना चाहिए । परन्तु आजादी के बाद हमारे नेताओं ने जिस तरह उसको लागू करना चाहिए , नहीं किया , क्योंकि उनकी नीयत में ही खोट थी । यदि आरक्षण-नीति ठीक से लागू होती तो वह बात सही हो सकती थी । दूसरी एक बात और । बाबासाहब भलीभांति जानते थे कि यदि आरक्षण की बात वे दीर्घकाल के लिए करेंगे तो दूसरे नेता उसको मान्य नहीं करेंगे । तीसरे उसकी अवधि के उपरांत हर बार उसका "रिव्यू" करने का प्रावधान उसमें है । एक बात और मैं अपनी तरफ से जोड़ना चाहती हूं कि

यह आरक्षण-नीति न्याय के लिए है । यदि आरक्षण न हो तो इस वर्ग के प्रतिभा-संपन्न लोगों के साथ भरपूर अन्याय होने की पूरी-पूरी संभावना है । इस संदर्भ में मेरे मानस-गुरु डा. पारूकान्त देसाई की निम्नलिखित पंक्तियों को उद्धृत करना चाहूंगी --

" बराबरी कैसे करें बयानबे और आठ ।
बराबरी हो जायगी जब पिछड़े होंगे साठ ।। " [35]

स्वातंत्र्योत्तरकाल में दलितोद्धार और दलित-जागरण के प्रयत्न :

15 अगस्त 1947 को भारत स्वतंत्र हुआ । डा. बाबासाहब आंबेडकर उसके प्रथम विधि-मंत्री हुए । विधि-मंत्री के रूप में उन्होंने अपने उत्तरदायित्वों का भलीभांति निर्वाह किया । 26 जनवरी 1950 को भारत का प्रथम संविधान लागू हुआ जिसका पूरा ड्राफ्टिंग बाबासाहब ने किया था । इसीलिए बहुत-से लोग उसे भीम-संहिता कहते हैं । संविधान में आरक्षण का प्रवधान करवा के उन्होंने दलितों की बहुत बड़ी सेवा की । विधि-मंत्री के रूप में सरकार में रहकर भी वे दलितों के मान-सम्मान के लिए लड़ते रहे हैं । सन् 1953 में उन्होंने अस्पृश्यता-विरोधी कानून पारित करवाया , इसके तहत अस्पृश्यता बरतना कानूनन अपराध हो गया । सन् 1954 में इसे लोकसभा में प्रस्तुत किया गया ।

सन् 1956 में उन्होंने नागपुर में बौद्ध-धर्म का अंगीकार किया । उनके साथ हजारों दलितों ने भी बौद्ध-धर्म की दीक्षा ली थी । किन्तु उसे दुर्भाग्यपूर्ण ही कहा जायेगा कि उसी वर्ष उनका निधन हुआ और इस प्रकार एक क्रान्तद्रष्टा और दलितों का मसीहा इस संसार से उठ गया । किन्तु डाक्टर साहब ने दलितों के उद्धार के लिए जो भगीरथ कार्य किये उनको विस्मृत नहीं किया जा सकता ।

स्वातंत्र्योत्तरकाल में दलितोद्धार के कार्य :

स्वातंत्र्योत्तरकाल में दलितोद्धार के जो कार्य हुए उसके मूल में डा. बाबासाहब आंबेडकर द्वारा लिखित भारतीय संविधान का योगदान मुख्य है । प्रस्तुत संविधान में बाबासाहब ने दलितों के समान अधिकारों की प्राप्ति हेतु कुछ धाराओं का प्रवधान करवाया था । संविधान की धारा 15 के अनुसार राज्य किसी भी नागरिक के साथ धर्म , वंश , जाति और लिंग के आधार पर भेदभाव नहीं कर सकता । इसी धारा के तहत ही दलितों को यह अधिकार भी मिल जाता है कि दुकानें , सार्वजनिक स्थान , उपहारगृह , कुएं , तालाब आदि सभी उनके लिए खुले कर दिए जायेंगे । संविधान की धारा 17 के तहत अस्पृश्यता को कानूनन रद्द कर दिया गया । डा. बाबासाहब ने दलितों की स्थिति ध्यान में रखते हुए धारा क्रमांक 330 और 332 में पिछड़ी अनुसूचित जातियों (शिड्युल्ड कास्ट) तथा अनुसूचित जनजातियां (शिड्युल्ड ट्राइब) के लिए लोकसभा तथा राज्य की विधान सभाओं में उनकी आबादी के हिसाब से कुछ प्रतिशत स्थान आरक्षित कर दिये । उसी प्रकार भारतीय संविधान की धारा 335 के तहत यह प्रावधान किया गया कि उपर्युकत दलित जातियों के लिए नौकरियों में आरक्षण की व्यवस्था की जाय । इस प्रकार भारतीय संविधान के अनुसार सन् 1950 से ही अस्पृश्यता का अंत हो गया था , किन्तु कुछ त्रुटियां रह गयी थीं । उन त्रुटियों को दूर करने के लिए 8 मई सन् 1955 में (द अनटचेबिलिटी ओफेन्सिस एक्ट " पारित किया गया । इस कानून के अनुसार अस्पृश्यता विषयक कानूनों की अवहेलना करने वालों को दण्ड और शिक्षा का प्रावधान रखा गया । इसके साथ ही प्रान्तीय सरकारों ने भी अस्पृश्यता दूर करने वाले कानून पास किये और साथ ही साथ मंदिर-प्रवेश तथा दलित सामाजिक अन्याय निवारक कानून भी पास किया गया ।[36]

उपर्युक्त सन् 1955 के अस्पृश्यता× अस्पृश्यता विषयक कानून के बाद भारत सरकार ने एक पृथक कानून 19 नवम्बर सन् 1976 में "नागरिक अधिकार संरक्षण कानून (सिविल राइट प्रोटेक्शन एक्ट - 1976) के नाम से पारित किया । वस्तुतः यह 1955 के अधिनियम का ही संशोधित रूप है , किन्तु उसके निम्नलिखित प्रावधान महत्वपूर्ण है :—

/1/ अस्पृश्यता के अपराध में दण्डित लोग लोकसभा और विधानसभा का चुनाव नहीं लड़ सकते ।

/2/ अस्पृश्यता को "ज्ञातव्य अपराध " (कोग्निजिबल (ओफेन्स (घोषित किया गया । इस कानून के अनुसार पुलिस बिना किसी शिकायत के अस्पृश्यता से संबंधित अपराध में स्वयं सीधे कार्यवाही कर सकती है । ऐसे अपराध में वादी और प्रतिवादी को किसी प्रकार का कोई समझौता करने की भी आज्ञा नहीं होगी ।

/3/ पहली बार अस्पृश्यता संबंधी अपराध के लिए एक महीने से लेकर छः महीने तक की कैद और 100 रूपये से लेकर 500 रूपये तक के जुर्माने की व्यवस्था की गई । दुबारा उसी प्रकार का अपराध करने पर 6 महीने से एक वर्ष तक की कैद तथा 200 रूपये से× लेकर 500 रूपये तक के जुर्माने का प्रावधान है । तीसरी बार उसी प्रकार का अपराध करने पर एक वर्ष से लेकर दो वर्ष तक की कैद तथा 1000 रूपये के जुर्माने का प्रावधान रखा गया है ।

/4/ यदि कोई सरकारी कर्मचारी अस्पृश्यता से सम्बद्ध जांचकार्य की जानबूझकर उपेक्षा करेगा तो उसके इस कार्य को अपराध को प्रोत्साहन देनेवाला और अतएव दण्डनीय माना जायेगा ।

/5/ अस्पृश्यता का प्रचार करना और उसे किसी भी रूप में न्यायोचित ठहराना भी अपराध होगा । किसीको अस्पृश्यता बरतने के लिए बाध्य करना भी दण्डनीय अपराध

माना जायेगा ।

/6/ सामूहिक रूप से अस्पृश्यता संबंधी अपराध करने पर ऐसे किसी क्षेत्र के लोगों पर सामूहिक जुर्माना करने का अधिकार राज्य सरकारों को दिया गया है ।

/7/ पूजा के निजी स्थानों पर जहाँ जनता साधारणतः जाती रहती है , वहाँ किसी भी रूप में अस्पृश्यता को बरतना दण्डनीय अपराध होगा ।

/8/ इस कानून का उल्लंघन करनेवाले लोगों को दण्ड देने हेतु विशेष अधिकारी की नियुक्ति और मामलों की सुनवाई हेतु विशेष अदालत के गठन की व्यवस्था की गयी है ।

इस प्रकार कानूनी तौर पर तो अस्पृश्यता-विषयक कानून बन गए हैं , परन्तु व्यवहार में हम देखते हैं कि दलितों पर होनेवाले अत्याचारों की कोई खास कमी नहीं देखी जाती है । बल्कि अत्याचार कई बार और भीषण रूप ले लेते हैं । बेलछी-काण्ड या पारसबिगहा काण्ड जैसे काण्ड होते ही रहते हैं । दूर-दराज के गांवों में दलितों की स्थिति आज भी भयंकर और दयनीय है ।

दलित-विमर्श और साहित्य का संबंध :

काव्य या साहित्य जनता की चित्तवृत्तियों का प्रति-बिम्ब है । अतः जब-जब समाज में कुछ क्रान्तिकारी घटनाएं होती हैं , उन्हें दिशा देने हेतु साहित्य में कुछ क्रान्तद्रष्टा कवि या लेखक उपस्थित होते हैं । आधुनिक काल के पूर्व मध्यकाल में भक्ति का जो आंदोलन चला उसमें भी लोकजागरण के स्वर स्पष्टतया सुनायी पड़ते हैं । भक्ति पर केवल पुरुषों का अधिकार नहीं है , उसे ललकारा मीराबाई , दयाबाई , सहजोबाई , अक्कादेवी जैसी कुछ कवयित्रियों ने । तो दूसरी तरफ कबर , दादू , रैदास जैसे निम्न जातियों के संतों ने अपनी अस्मिता का परिचय देते हुए

अध्यात्म के इस क्षेत्र पर अपना दावा बुलन्द किया । यह अनेकशः निर्दिष्ट हुआ है कि आधुनिक काल के प्रमुख मुद्दे दो रहे हैं -- ~~स्त्री~~ नारी-विमर्श और दलित-विमर्श । अतः यहां पर बहुत संक्षेप में साहित्य और दलित-विमर्श के संबंधों को रेखांकित करने का उपक्रम है । यह तो एक सर्वविदित तथ्य है कि मराठी का दलित साहित्य अत्यन्त ही समृद्ध है । यद्यपि हमारे विषय का संबंध हिन्दी कहानी - साहित्य से है, तथापि मराठी साहित्य में दलित साहित्य का जो प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर हो रहा है उसे शब्दांकित करना अनुपयुक्त न होगा ।

मराठी साहित्य में दलित-विमर्श का चित्रण :

मराठी साहित्य के अन्तर्गत दलित चेतना के दर्शन हमें मध्ययुगीन मराठी संत-साहित्य में होते हैं । मराठी संतों में भजन-कीर्तन के द्वारा दलितों को समता प्रदान करने का प्रयत्न मिलता है । यहां यह ध्यातव्य है कि उनका यह प्रयत्न केवल आध्यात्मिक क्षेत्र तक सीमित था, किन्तु उस युग की सीमाओं को देखते हुए उनके इस आह्वान को भी श्लाघनीय कहा जा सकता है । ऐसे संतों में चोखा मेलाजी का नाम उल्लेखनीय कहा जा सकता है । चोखामेला जाति के महार थे । अतः पंढरपुर के मंदिर के बाहर खड़े रहकर वे पांडुरंग के दर्शन करने का संतोष प्राप्त करते थे । उन्होंने जिन अभंगों की रचना की है उनमें उन्होंने अस्पृश्यता और जातिवाद के खिलाफ़ अनेक तर्क-वितर्क दिये हैं । उनके इन अभंगों से ज्ञापित होता है कि वे एक विद्रोही संत थे । वे समता और व्यक्ति-स्वातंत्र्य के आग्रही थे । उनके अभंगों में अपने जाति बन्धुओं के प्रति ठसाठस प्रेम भरा हुआ श्रुति-गोचर होता है । अपनी लाचारी को परिलक्षित करते हुए उन्होंने स्वयं को "उच्छिष्ट का दास" कहा है । समतावाद के समर्थक होने के कारण उन्होंने विठ्ठल के पक्षपाती न्याय

की ओर व्यंग्यात्मक इशारा किया है ।[37] संत चोखामेला के पश्चात् मराठी संत तुकारामजी आते हैं । यद्यपि उनके विचार वर्णाश्रम धर्म के अनुकूल थे और वेदों में उनकी निष्ठा थी , तथापि भक्तिमार्ग में वे जातिभेद को नकारते थे । गरीबों के प्रति उनके मन में दया थी और वे दृढ़तापूर्वक मानते थे कि ईश्वर की भक्ति का अधिकार सभी को है । अपनी दीनता और हीन जाति के संदर्भ में भी उनके मन में खेद पाया जाता था । उनके अभंग मराठी साहित्य का अनमोल भण्डार है ।

स्वाधीनतापूर्व काल में दलित आंदोलन की प्रेरक शक्ति महात्मा ज्योतिबा फुले थे । डा. बाबासाहब अंबेडकर के क्रान्तिकारी विचारों के पीछे भी महात्मा फुले की यह दूरदृष्टि शक्ति दृष्टिगोचर होती है । महाराष्ट्र में दलित आंदोलन के संदर्भ में महात्मा फुले , प्रिन्सिपल गो. ग. आगरकर , डा. बाबा साहब अंबेडकर आदि के क्रान्तिकारी विचारों के योगदान को रेखांकित करना चाहिए । मराठी का दलित साहित्य समृद्ध और संपन्न है उसके पीछे यह पृष्ठभूमि भी कारणभूत है । ऐसे दलित साहित्यकारों में ना. रा. शेण्डे का नाम उल्लेखनीय कहा जा सकता है । उनकी "तांबड़ादगड " नामक कृति में हमें आदिम जातियों का सांस्कृतिक परिचय मिलता है । उनके "काजली रात्र" नामक उपन्यास में दलित युवक मोहन और ब्राह्मण कन्या चित्रा के सम्बन्धों को निरूपित किया गया है । और इस प्रकार प्रगतिशील विश्व के सम्मुख एक नये विचार को प्रस्तुत किया गया है । इस क्रम में श्रीमती विभावरी शिरूरकर का नाम आता है । इस संदर्भ में उनका "बली" नामक उपन्यास उल्लेखनीय कहा जा सकता है । इस उपन्यास में अपराधियों की बस्ती का यथार्थ चित्रण हुआ है । यहां पर इन तथाकथित अपराधियों को अपराधी कैसे बनाया जाता है इस तथ्य को दिग्दर्शित किया गया है । प्रस्तुत उपन्यास में दलित स्त्रियों को किस प्रकार की दरिद्र अवस्था में रहना पड़ता है उसका यथार्थ चित्रण हुआ है । इसी दरिद्रता के

के कारण ही उनको पाशवी प्रकार की कामुकता का शिकार होना पड़ता है । इसे भी यहां रेखांकित किया गया है ।

श्रीमती विभावरी के पश्चात् ग. त्र्यं. माडखोलकर का नाम आता है । उनका "चंदनवाडी" उपन्यास दलित जीवन पर आधारित है । उसमें महार जाति की समस्याओं को उकेरा गया है । हीरा महार जाति की एक स्त्री है । शिक्षा के कारण उसमें विशिष्ट प्रकार के संस्कार पाये जाते हैं । अतः उसके मन में यह विश्वास है कि वह किसी ब्राह्मणी से किसी लिहाज से कम नहीं है । इसी क्रम में अण्णाभाऊ साठे का नाम आता है । अण्णाभाऊ साठे जिन्दगीभर झोंपड़ियों में रहे थे । अतः दलित जीवन का उन्हें प्रत्यक्ष — अपरागत § फर्स्ट हैण्ड एक्सपिरिअन्स § अनुभव प्राप्त हुआ था । फलतः उनके साहित्य में दलित-जीवन का यथार्थ चित्रण उभर कर आता है । उनका एक उपन्यास "फकीरा" इस संदर्भ में उल्लेखनीय कहा जा सकता है । "फकीरा" उपन्यास का फकीरा सामाजिक परंपराओं का विरोधी है । यहां एक तथ्य ध्यातव्य है कि अधिकांश दलित लेखक परंपराओं का विरोध करते हैं क्योंकि अधिकांशतः इन परंपराओं के कारण ही उनकी अवदशा हुई है । उनके नरक का निर्माण इन्हीं परंपराओं से हुआ है । प्रस्तुत उपन्यास का फकीरा एक विद्रोही चरित्र है जो दलितों को इस दासता से मुक्ति दिलाने के लिए विद्रोह करता है ।

जहां "काजली रात्र " में दलित युवक मोहन और ब्राह्मण कन्या चित्रा के प्रणय संबंधों का निरूपण है , वहां र.वा. दिघे कृत "कार्तिकी" उपन्यास में महार जाति की कार्तिकी और इनामदार के बेटे की प्रेम-कथा को लिया गया है । इस प्रकार यह उपन्यास "काजली रात्र" के विलोम बिन्दु पर है । जिस प्रकार "फकीरा" उपन्यास का फकीरा दास्य जीवन से मुक्ति दिलाने के लिए विद्रोह करता है , ठीक

उसी प्रकार "मूड" उपन्यास की जानकी दास्य-मुक्ति के लिए विद्रोह करती है । जानकी सम्मानपूर्ण जीवन की कामना करती है और उसके लिए वह ताजिन्दगी लड़ती रहती है ।

इसी क्रम के एक अन्य उपन्यासकार हैं माधव कोंडविलकर । उनका उपन्यास " अजून उजाडायच आहे " उल्लेखनीय है । इस उपन्यास में देवजी और देवकी नामक एक चमार दम्पति के जीवन को उकेरा गया है । उनके माध्यम से हजारों वर्षों से इस वर्ग में बसी युगों की वेदना बोल रही है । इधर दलित नेताओं के क्रान्तिकारी विचारों के कारण समाज में जो यत्किंचित परिवर्तन हुआ है , वह भी कहीं-कहीं दर्ज हुआ है । पांडुरंग कुम्मार द्वारा लिखित "गावकुस" उपन्यास इसका उदाहरण है । उपन्यास का नायक हालाप्पा महार जाति का है । वह गांव की पंचायत में आरक्षित सदस्य होने का सम्मान पाता है । दलित साहित्य की इस परंपरा में शंकरराव खरात का नाम भी उल्लेखनीय कहा जा सकता है । उनकी आत्मकथात्मक रचना " तराल अंतराल" में एक महार की जीवन-कथा लिया गया है । यह पहले " स्टोरी आफ द अनटचेबल" के रूप में अंग्रेजी में प्रकाशित हुई थी । प्रस्तुत आत्मकथात्मक कृति में महार जाति की कथा-व्यथा को यथार्थवादी शैली में उकेरा गया है । इसी प्रकार की एक कृति " कथा माझ्या जन्माची " है , जिसके लेखक हैं नामदेव व्हटकर । यद्यपि यह एक सामान्य प्रकार की कृति है , तथापि उसका महत्त्व इस दृष्टि से है कि उसमें एक दलित के उत्कर्ष की कहानी को रेखांकित किया गया है । [38]

इसी क्रम में प्रा. प्र.ई. सोनकाम्बले की रचना "आठवणीचे पक्षी " भी एक उल्लेखनीय कृति है । इसमें लेखक ने दलित जीवन की दीनता , दासता और उनके दुःख की त्रिवेणी-वैतरणी का लोमहर्षक चित्रण किया है । दलित जीवन के संदर्भ में दया पवार की "बलुत"

भी बहुचर्चित है । लक्ष्मण माने की आत्मकथा "उपरा" में दलितों के परावलंबी जीवन का चित्रण मिलता है । गांव के लोगों की वे जो सेवा करते हैं उसके बदले में उन्हें अनाज मिलता है । इस प्रथा के द्वारा उनका आर्थिक शोषण होता है । रूस्तुम अचलखाम्ब की "गावकी " भी एक आत्मकथात्मक कृति है । उसमें सवर्ण और महार जाति के लोगों के बीच संघर्ष को चित्रित किया है ।[39]

शरणकुमार लिंबाले दलित साहित्य के एक सशक्त हस्ताक्षर है । उन्होंने "दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र" नामक एक आलोचनात्मक ग्रन्थ हिन्दी में लिखा है । दलित साहित्य की जो कटु आलोचना करते हैं उनको यह पुस्तक अवश्य पढ़नी चाहिए । दलित-विमर्श समझने के लिए भी यह एक पठनीय पुस्तक है । मराठी में उनकी आत्मकथा "अक्करमाशी " बहुचर्चित रही है । इसके अलावा उनका एक कहानी-संग्रह भी है — "देवता आदमी" । इस संग्रह की एक कहानी "देवता आदमी " है । इसकी तुलना मटियानीजी की कहानी "सतजुगिया आदमी" से करनी चाहिए । डा. सूर्यनारायण रणसुभे ने "अक्करमाशी" का हिन्दी में अनुवाद किया है । "अक्करमाशी" के संदर्भ में कहा गया है :

" स्त्री-पुरुष के अनैतिक एवं असामाजिक संबंधों से उत्पन्न संतान की मर्मस्पर्शी व्यथा-कथा का नाम है "अक्करमाशी" जिसमें मराठी के लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकार शरणकुमार लिंबाले का भोगा हुआ यथार्थ अपने अस्तित्व की पहचान के लिए केवल अपनी मां का ही आंचल नहीं पकड़ता बल्कि सम्पूर्ण समाज और सामाजिक व्यवस्था को प्रश्नों के कठघरे में खड़ा कर देता है । आत्म-संघर्ष , आत्म-विडंबना , व्यवस्था-विरोध , आतंकित मानसिकता और सामाजिक संकट जैसे भावबोधों से सुनियोजित यह आत्मकथात्मक उपन्यास मराठी से अनूदित है । उपन्यासकार ने बड़ी ही सीधी-सपाट-भाषा-शैली में जारज संतान की कुंठा , क्षोभ और आक्रोश को

उसके सामाजिक परिवेश में उकेरा है ।"[40]

शंरणकुमार ~~लिंबाले~~ लिंबाले ने "अक्करमाशी" के उपरांत बारामाशी " नामक आत्मकथात्मक उपन्यास भी लिखा है । "उत्पाद" , "श्वेत पत्रिका " आदि ~~अन्य~~ उनके काव्य-संग्रह है । "देवता आदमी" के उपरांत उनका दूसरा कहानी-संग्रह है : हरिजन । इसके अतिरिक्त "दलित पैंथर " और "दलित प्रेम कविता " का उन्होंने संपादन भी किया है ।

"अक्करमाशी " के हिन्दी अनुवादक डा. सूर्यनारायण रणसुभे ने भी "दलित कहानियों " का संपादन किया है । महा-राष्ट्र हिन्दी अकादमी द्वारा मराठी भाषी हिन्दी लेखक के रूप में उनको गजानन माधव मुक्तिबोध " पुरस्कार सन् 1989 में ~~प्रदान~~ प्रदान हो चुका है । श्री प्र.ई. सोनकांबलेजी कृत "आठवणीचे पक्षी " का हिंदी अनुवाद "यादों के पंछी " के रूप में इन्होंने किया है । उस पर सन् 1984 में केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय दिल्ली का ~~पुरस्कार~~ पुरस्कार भी इनको मिल चुका है ।

उपन्यास और आत्मकथा के अलावा मराठी का दलित कहानी-साहित्य भी काफ़ी उर्वर है । मराठी कहानी-साहित्य के क्षेत्र में प्रा. श्री.म. माटे का "उपेक्षितताचे अंतरंग" नामक कहानी-संग्रह उल्लेखनीय है । इसमें उन्होंने दलितों के दुःख-दर्दों ~~को~~ को रेखा-कित किया है । " तारल खो-यातील पिया " नामक कहानी की पिरया मृत जानवर को काटने और रस्सी बटने को नकारती है । मटियानीजी की कहानी "सतजुगिया आदमी" में भी इस समस्या को लिया है । प्रेमचंद के उपन्यास "कर्मभूमि" की सलोनी काकी भी चमारों को उनके घृणित काम छोड़ने की सलाह देती है । शंकरराव खरात का कहानी-संग्रह "बारा बलुतेदार " भी एक उल्लेख्य कहानी-संग्रह है । इसकी एक कहानी में गांव के पाटिल द्वारा शोषित और दमित रामा कहार का आलेखन लेखक ने यथार्थतः किया है । रामा

महार पूरे महार समाज का प्रतिनिधि पात्र है । इस प्रकार "दाँडी" कहानी में दाँडी पीटते-पीटते ही एक दलित मूर्छित होकर गिर जाता है । प्रेमचंद कृत " सद्गति" कहानी के दुखिया चमार की स्मृति कौंध जाती है, पर दुखिया लकड़ी का गट्ठर चीरते-चीरते दम ही तोड़ देता है, वहां प्रस्तुत कहानी का दलित पात्र मूर्छित होकर बिर जाता है । "भण्डारा" कहानी के दामा महार को भोजन में खीर का स्वाद मिलने के बदले केवल गुड का पानी मिलता है । व्यंकटेश माडगूलकर भी एक चर्चित कहानीकार हैं । उनका कहानी संग्रह "बाजार" काफी चर्चित रहा है । प्रस्तुत कहानी संग्रह की "गाववाडा" कहानी का एक पात्र देना विभुते एक महार को नमस्कार करता है । उसके इस महा अपराध (?) के लिए उसे गांव के सरपंच के सम्मुख उपस्थित होना पड़ता है । बाबूराव बागूल की "विद्रोह" कहानी दलितों की संतप्त विद्रोही धारणा को प्रतिबिम्बित करती है । अविनाश डोलस की "बली" कहानी सवर्ण-महार संघर्ष को रूपायित करती है । सुधाकर गायकवाड भी एक चर्चित कहानीकार हैं । उनकी कहानी "उद्वेग" में अनिल महार की प्रिया स्मिता जोशी अनिल से विवाह नहीं करना चाहती है । अतः अनिल महार के मन में प्रतिशोध की अग्नि भभूक उठती है । महादेव मोरे की "फर्री " कहानी का नायक परश्या चमार बहुत ही ताकतवर है । फलतः वह फरिदा के मर्द हसन्या के हाथों से आसानी से छूटकर भाग जाता है । [41]

उपन्यास और कहानी की भांति मराठी दलित साहित्य में दूसरे साहित्य प्रकार भी काफी मातबर हैं । निबंध , नाटक , एकांकी, काव्य (कविता) आदि काव्य-रूपोंमें मराठी का दलित साहित्य विकसित हो रहा है । इस संदर्भ में प्रा. गंगाधर पानतावणे (निबंधकार) ; किसन फागू बनसोडे , नामदेव व्हटकर , प्राचार्य म. भ. चिटणिस , भि. शि. शिंदे (नाटककार) ; म. भ. चिटणिस , भि. शि. शिन्दे , प्रेमानंद गज्वी , प्रभाकर दुपारे , दत्ता भगत (एकांकीकार) ; नामदेव ढसाल , शरच्चन्द्र , मुक्तिबोध , दया

पवार , ज. वि. पवार , माधव कोंडविलकर § कवि § आदि के नाम उल्लेखनीय कहे जा सकते हैं । मराठी दलित साहित्य की तुलना में हिन्दी दलित-साहित्य तथा गुजराती दलित साहित्य कुछ कमजोर प्रतीत होता है । शुरू उसका एक कारण यह है कि गुजरात और हिन्दी प्रदेश उभय में ज्योतिबा फुले , डा. बाबा साहब आंबेडकर , नारायण गुरु , रामास्वामी पेरियार जैसे क्रान्तिकारी विचारक और चिंतक नहीं हुए हैं । ये प्रदेश अधिकांशतः महात्मा गांधी के प्रभाव-क्षेत्र में आते हैं और यहां के दलित-प्रवृत्ति से जुड़े हुए नेता भी "गांधीनुमा सेवक " टाईप के ज्यादा दिखते हैं । उनमें सेवा और त्याग-भावना तो है , पर विद्रोह और जूझारूपन का माद्दा कुछ कम ही नजर आता है । गुजराती के दलित साहित्यकारों में जोसेफ मेकवान , दलपत चौहान आदि उल्लेखनीय हस्ताक्षर हैं । हिन्दी में ओमप्रकाश वाल्मीकि , मोहनदास नेमिशराय , सूरजपाल चौहान , डा. कुसुम वियोगी , डा. रमणिका गुप्ता आदि के नाम उल्लेखनीय हैं जिनकी कहानियों की चर्चा हम षष्ठ अध्याय में करने जा रहे हैं । फिलवक्त इतना कह सकते हैं कि महाराष्ट्र को दलित नेताओं की जो समृद्ध विरासत मिली उसके कारण उसका दलित साहित्य भी पर्याप्त समृद्ध और संपन्न है ।

निष्कर्ष :
======

समग्रावलोकन की प्रक्रिया द्वारा प्रस्तुत अध्याय से हम निम्नलिखित निष्कर्षों तक सहजतया पहुंच सकते हैं :

§1§ दलित जातियों में उन पिछड़ी जातियों को लिया जा सकता है जिनके ऊपर पूर्ववर्ती अध्याय में निर्दिष्ट निर्योग्यताओं §डिसएबिलिटीज़ § को थोपा गया है ।

§ §2§ दलित-विमर्श का प्रारंभ बौद्ध धर्म के आगमन से

होता है । वर्ण-व्यवस्था और जाति-प्रथा पर पहली करारी चोट बौद्ध धर्म द्वारा होती है ।

§3§ बुद्ध के समय से हमारे यहां दो प्रकार की विचार-धाराएं मिलती हैं । एक विचारधारा वह है जो जातिभेद को न मानते हुए सभी मनुष्यों को मानवता के एक सूत्र में बांधना चाहती है । और दूसरी विचारधारा वह है जो वर्णाश्रम धर्म को उचित ठहराते हुए विभिन्न जातियों को अपने-अपने स्थान पर कायम रखना चाहती है । पहली विचारधारा के नेता बुद्ध और उनके अनुयायी तथा सिद्ध साधु और कबीर , दादू , नानक आदि निर्गुणिया संत हैं ; दूसरी धारा के नेता ब्राह्मण आचार्य हुए जिन्होंने स्मृतियों की रचना कर जाति-प्रथा को पुष्ट किया । पहली विचारधारा परिवर्तनकामी है , जबकि दूसरी विचार-धारा वाले यथास्थितिवादी हैं ।

§4§ बौद्धधर्म वर्णाश्रम के खिलाफ होने के कारण पुराणों द्वारा उस पर अनेक प्रकार के आक्रमण हुए । जैनों और बौद्धों पर शैवों ने कई प्रकार के प्रहार किये । बौद्धों के बढ़ते प्रभाव को रोकने के लिए उन्होंने साम , दाम. दण्ड , भेद सभी प्रकार के हथकण्डों का इस्तेमाल किया । सुरा और सुंदरी का प्रयोग भी हुआ । इस तरह भारत से बौद्धधर्म प्रायः लुप्त हो गया ।

§5§ भारत में जब इस्लाम का आगमन हुआ तब हमारे यहां बहुत-से अवैदिक और वेद-बाह्य संप्रदाय थे जो वर्णाश्रम व्यवस्था को नहीं मानते थे । अतः इस्लाम के कारण उन लोगों के सामने दूसरा विकल्प खुल गया ।

§6§ भारत में बौद्धधर्म का लोप होने से सामाजिक समता की जो मुहिम चल रही थी उसको करारा धक्का पहुंचा ।

§7§ बुद्धदेव के बाद दलित-विमर्श को भक्तिकाल के क्रान्त-द्रष्टा कवि कबीर ने आगे बढ़ाया । कबीर ने दलित-वर्ग में स्वाभिमान और अस्मिता को जगाया । मूर्तिपूजा , शास्त्र , संस्कृत आदि सभी को नकारकर कबीर ने एक विद्रोहात्मक भूमि को तैयार किया । इस पंथ में आगे चलकर दादू , रैदास , नानक, मलूकदास , सुंदरदास, गरीबदास , धनिराम , पलटूदास , रज्जब आदि निर्गुणिया संत हुए जिन्होंने वर्णाश्रम व्यवस्था पर अपने-अपने ढंग से कड़े प्रहार किये ।

§8§ कबीर तथा अन्य संत कवियों के बाद 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और 20वीं शताब्दी के प्रारंभ में जो दलित-जागरण हुआ उसमें गोपालराव देशमुख , महात्मा ज्योतिबा फुले , गोपाल गणेश आगरकर , ~~x~~ महर्षि प्रो. अन्नासाहब कर्वे , बड़ौदा के महाराजा सयाजीराव गायकवाड़ , गोपालकृष्ण गोखले , महात्मा गांधी , महर्षि विठ्ठलरामजी शिन्दे , वीर सावरकर , कोल्हापुर के महा-राजा राजर्षि साहूजी महाराज , कर्मवीर भाऊराव पाटिल तथा डा. बाबासाहब आंबेडकर आदि का योगदान महत्त्वपूर्ण है । इनमें भी डा. बाबासाहब आंबेडकर को तो हम दलितों का मसीहा कह सकते हैं ।

§9§ स्वातंत्र्योत्तर काल में दलितोद्धार तथा अस्पृश्यता निवारण हेतु कुछ कानून बने जिसके कारण दलितों की स्थिति में कुछ सुधार लाने के बाकायदा प्रयास हुए ।

§10§ आधुनिक काल के दो प्रमुख विमर्श हैं -- नारी विमर्श और दलित-विमर्श ।

§11§ दलित-विमर्श की दृष्टि से मराठी साहित्य अत्यन्त समुन्नत स्थिति में है । वहां दलित साहित्य की अलग से मुहिम चलायी गई और मराठी का दलित साहित्य अन्य प्रदेशों

की तुलना में अधिक संपन्न व समृद्ध है ॥ है ।

§12§ मराठी के दलित-साहित्यकार मुख्यतः ज्योतिबा फुले और डा. बाबासाहब आंबेडकर के क्रान्तिकारी विचारों से अधिक प्रभावित है ।

§13§ मराठी के दलित साहित्य में उपन्यास , कहानी , नाटक , एकांकी , निबंध , आत्मकथा , कविता आदि सभी काव्य-रूपों में प्रभूत मात्रा में साहित्य की रचना हुई है । प्रमाणात्मक § क्वोन्टिटी-वाइज § और गुणात्मक § क्वोलिटी-वाइज़ § उभय दृष्टि से यह साहित्य दूसरी कोटियों के साहित्य से ॥॥॥॥॥ टक्कर लेने की स्थिति में है ।

===== xxxxxx =========

: सन्दर्भानुक्रम :

§1§ संस्कृति के चार अध्याय : डा. रामधारीसिंह दिनकर : पृ. 198 ।

§2§ कहानी : बुद्ध सरना कहानी लिखता है : बुद्ध शरण हंस : चर्चित दलित कहानियां : सं. डा. कुसुम वियोगी : पृ. 24-25

§3§ संस्कृति के चार अध्याय : पृ. 199 ।

§4§ वही : पृ. 199 ।

§5§ वही : पृ. 257-258 ।

§6§ वही : पृ. 258 ।

§7§ द्रष्टव्य : वही : पृ. 259 ।

§8§ द्रष्टव्य : वही : पृ. 259 ।

§9§ भारतीय संस्कृति और अहिंसा : डा. धर्मानंद कौसाम्बी : उद्धृत द्वारा डा. रामधारीसिंह दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय : पृ. 259 ।

§10§ द्रष्टव्य : संस्कृति के चार अध्याय : पृ. 260 ।

§11§ भारतीय संस्कृति और अहिंसा : डा. धर्मानंद कौसाम्बी ।

§12§ वही ।

§13§ संस्कृति के चार अध्याय : पृ. 262 ।

§14§ वही : पृ. 262-263 ।

§15§ मध्यकालीन धर्म-साधना : आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : पृ. 95 ।

§16§ द्रष्टव्य : संस्कृति के ~~xxxx~~ चार अध्याय : पृ. 264 ।

§17§ वही : पृ. 268 ।

§18§ वही : पृ. 338 ।

§19§ उद्धृत द्वारा : डा. रामधारीसिंह दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय : पृ. 338-339 ।

§20§ द्रष्टव्य : प्रेमचन्द साहित्य में दलित चेतना : डा. बलवंत साधु जाधव : पृ. 29-30

§21§ द्रष्टव्य : ज्योतिबा फुले ग्रन्थावली ।

§22§ प्रेमचन्द साहित्य में दलित चेतना : डा. बलवंत साधु जाधव : पृ. 32 ।

§23§ वही : पृ. 34

§24§ द्रष्टव्य : डा. अम्बेडकर : भारत के आधुनिक मनु : ॐ नरेन्द्र प्रकाश : पृ. 25-35 ।

§25§ प्रेमचन्द साहित्य में दलित चेतना : पृ. 37 ।

§26§ से §29§ : वही : पृ. क्रमशः 38, 39-40, 40, 42 ।

§30§ द्रष्टव्य : " डा. अम्बेडकर : भारत के आधुनिक मनु ।

§31§ प्रेमचंद साहित्य में दलित चेतना : पृ. 40-41 ।

§32§ से §34§ : वही : पृ. क्रमशः 41, 41, 42 ।

§35§ डा. पारूकान्त देसाई की काव्य-डायरी से ।

§36§ प्रेमचंद साहित्य में दलित चेतना : पृ. 43-44 ।

§37§ से §39§ : वही : पृ. 46-47 , 48, 48 ।

§40§ अक्करमाशी : डा. शरणकुमार लिंबाले : पुस्तक के द्वितीय फ्लेप से ।

§41§ विस्तार के लिए द्रष्टव्य : प्रेमचन्द साहित्य में दलित चेतना : पृ. 48 ।

====== xxxxxx =========